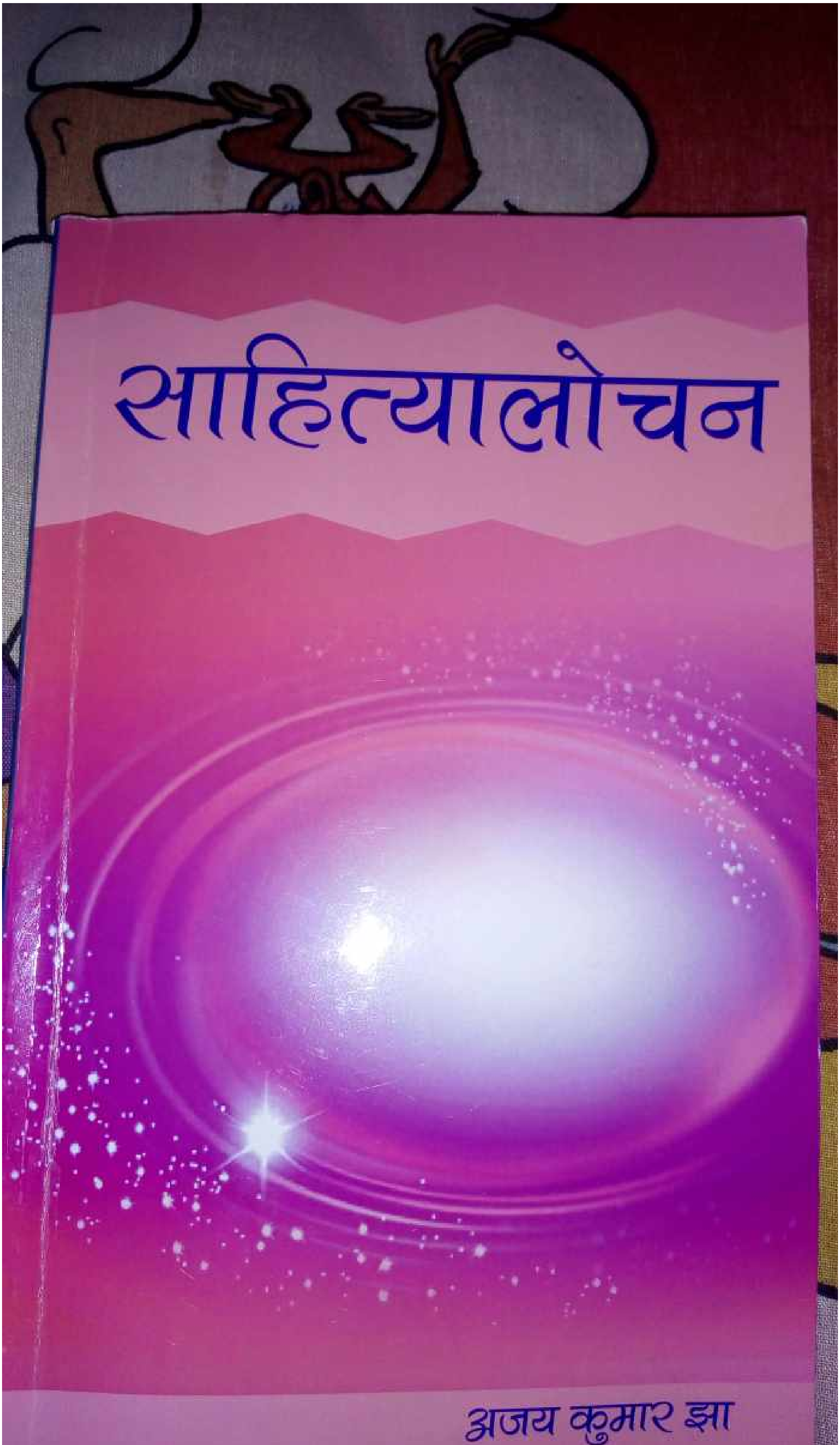

साहित्यालोचन
अजय कुमार झा

विषयानुक्रमणिका

1
साहित्यशास्त्र का परिचय

1.1 उद्भव और विकास

काव्यशास्त्र की विकास यात्रा का मूल्यांकन करने वाले सभी विद्वान् इस शास्त्र का मूल ऋग्वेद को मानते हैं। ऋग्वेद में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित रस, अलंकार, रीति आदि पदों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। डॉ. पी.वी. काणे ने ऋग्वेद के एक मंत्र को उद्धृत कर उसमें चार उपमाएँ दिखाई हैं -

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥

ऋग्वेद-1/124/7

डॉ. काणे ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में रूपकातिशयोक्ति अलंकार की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

ऋग्वेद -1.164.20

डॉ. काणे का मानना है कि इन मंत्रों में प्रयुक्त उपमा तथा अतिशयोक्ति अलंकार अत्यन्त उत्तम कोटि के हैं। इसी प्रकार व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अनन्वय आदि अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। काव्यशास्त्र के विविध तत्त्वों को आधार बनाकर अनेक विद्वानों ने वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है तथा सार रूप में काव्यशास्त्र का मूल वैदिक साहित्य को मानने के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। डॉ. काणे का मानना है कि ऋग्वेदकालीन कवियों (ऋषियों) ने उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग ही नहीं किया, वरन् काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी

उन्हें कुछ ज्ञान था। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ. 407)। ऋग्वेद के मंत्रो में काव्य शब्द का भी उल्लेख मिलता है।

आदेवानामभवः केतुरग्नेमन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।

ऋग्वेद 3.10.17

यहाँ अग्नि को काव्यों का ज्ञाता कहा गया है।

वैदिक साहित्य में नाट्य-तत्त्व का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। विश्वामित्र एवं नदी संवाद (ऋग्वेद 3.33), यम और यमी संवाद (ऋग्वेद 10.10), शर्मा और पाणि संवाद (ऋग्वेद 10.108) आदि अनेक सूक्त हैं जो नाटकों में दृष्टिगत होने वाले कथनोपकथन के समतुल्य हैं। ऋग्वेद में वीणा (10.50.1), दुन्दुभि (1.25.5, 6.47.29), गर्गर (7.69.9) आदि वाद्य यंत्रों का उल्लेख है। ऋग्वेद के एक मंत्र में उषा देवी की तुलना नर्तकी से की गई है। वह नग्न वक्षवाली है तथा आभूषणों को पहनकर नृत्य करती है (ऋग्वेद 1.92.4)।

भरतमुनि ने नाट्य के प्रमुख तत्त्वों पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस का स्रोत क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद को माना है -

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

नाट्यशास्त्र 1.17

इन तथ्यों के आधार पर काव्यशास्त्र का मूल ऋग्वेद को मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

ऋग्वेद के परवर्ती ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया गया है। कठोपनिषद् के इस मंत्र में रूपक अलंकार की छटा दर्शनीय है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

कठोपनिषद् 1.3.3

(जीवात्मा को रथ का स्वामी समझो, शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथि समझो तथा मन को लगाम समझो)।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्र रूपक अलंकार की दृष्टि से द्रष्टव्य है -

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

मुण्डकोपनिषद् 2.2.4

(प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। उसका सावधानीपूर्वक वेधन करना चाहिए और बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए।)

इस प्रकार के अनेक उदाहरण ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों में भी मिलते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में रस को परमानन्द स्वरूप कहा गया है जिसको काव्यशास्त्र में बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किया गया तथा उसकी सिद्धि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये गये – **रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति। रसो वै सः।** आचार्य यास्क ने अपनी रचना निरुक्त में उपमा अलंकार का भेद सहित वर्णन किया है। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उपमा के विविध अवयवों का वर्णन किया है। परन्तु समग्र रूप से काव्य ग्रन्थों की उपलब्धि रामायण और महाभारत के रूप में होती है। रामायण को आदिकाव्य कहा जाता है। परवर्ती कवियों के लिए ये दोनों महाकाव्य उपजीव्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। इतना ही नहीं, इन दोनों महाकाव्यों को परवर्ती काव्यशास्त्रकारों ने लक्ष्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकृति दी तथा इनके आधार पर विविध काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का उन्मेष हुआ। लक्षणकारों ने अपने मत के समर्थन में इन दोनों महाकाव्यों से प्रमाण प्रस्तुत किये। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना में रामायण को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं –

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

ध्वन्यालोक 1.5

इसी प्रकार आचार्यों ने सिद्धान्तों के निर्माण में इन दोनों महाकाव्यों का भरपूर उपयोग किया। इन दोनों महाकाव्यों के प्रणयन के बाद संस्कृत काव्य-परम्परा का खूब सम्वर्धन हुआ। भास, कालिदास, दण्डी, भारवि, अश्वघोष आदि महाकवियों ने अपनी लेखनी से श्रेष्ठ काव्यों की रचना कर काव्य सृजन की परम्परा को पराकाष्ठा पर पहुँचाया।

परन्तु काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ के रूप में भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र ही प्रथम रचना है। इसके पूर्व हमें कोई आकर ग्रन्थ नहीं मिलता है, जिसमें

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन हो। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसके पूर्व ऐसे ग्रन्थ नहीं थे। नाट्यशास्त्र की प्रौढ़ता से ही सिद्ध हो जाता है कि इसकी रचना के पूर्व पर्याप्त लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध थे। भरत मुनि ने उन सबका समन्वय नाट्यशास्त्र के रूप में किया। जूनागढ़ (150 ई.पू.) में प्राप्त रुद्रदामन के शिलालेख के अध्ययन के आधार पर डॉ. काणे का मानना है कि इस काल तक काव्यशास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस शिलालेख का रचयिता अपने समकालीन काव्यशास्त्र में प्रस्तुत कवियों के स्तर की रचना करने का प्रयत्न कर रहा है। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ. 417)। समकालीन अन्य शिलालेखों में भी काव्यशास्त्र की समृद्धावस्था का प्रमाण मिलता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र से पूर्व अनेक काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ प्रचलित थे परन्तु नाट्यशास्त्र की प्रौढ़ आभा में वे धूमिल हो गये तथा धीरे-धीरे उनका अस्तित्व भी समाप्त हो गया।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसके पूर्व नाट्यशास्त्र एवं काव्य या अलंकार शास्त्र दो अलग-अलग विधायें थी। परन्तु दोनों में रसादि विषयक समानता के कारण भरतमुनि ने इनका समन्वय किया तथा काव्यों में श्रव्य-काव्य की प्रधानता के कारण अपने ग्रन्थ को नाट्यशास्त्र नाम से अभिहित किया। इसमें नाट्य एवं काव्य के विविध विषयों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन है। इसमें 36 अध्याय हैं।

नाट्यशास्त्र में काव्य के विविध विषयों का सूक्ष्म विवेचन के बाद भी काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रवाह नहीं रुका। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अपनी लेखनी से इस प्रवाह को समृद्ध किया। काव्यशास्त्र के कुछ प्रसिद्ध आचार्य एवं उनके ग्रन्थ:-

भरतमुनि	-	नाट्यशास्त्र
भामह	-	काव्यालंकार
दण्डी	-	काव्यादर्श
वामन	-	काव्यालंकारसूत्र
रुद्रट	-	काव्यालंकार
आनन्दवर्धन	-	ध्वन्यालोक

अभिनव गुप्त	-	नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक पर लोचन टीका
राजशेखर	-	काव्यमीमांसा
धनञ्जय	-	दशरूपक
कुन्तक	-	वक्रोक्तिजीवित
क्षेमेन्द्र	-	औचित्यविचारचर्चा
भोज	-	सरस्वतीकण्ठाभरण
मम्मट	-	काव्यप्रकाश
हेमचन्द्र	-	काव्यमीमांसा
जयदेव	-	चन्द्रालोक
विश्वनाथ	-	साहित्यदर्पण
जगन्नाथ	-	रसगंगाधर

इन प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्यों ने अनेक लक्षण, टीका, वाद तथा प्रकरण ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन सबका काव्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने विविध काव्य-तत्त्वों का उन्मेष करने के साथ-साथ विविध सिद्धान्तों की स्थापना की। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था-काव्यात्मा विषयक सिद्धान्त। काव्य के स्वरूप की संकल्पना के साथ ही आचार्यों के समक्ष काव्य की आत्मा विषयक प्रश्न खड़ा हो गया। आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से सतर्क काव्य की आत्मा का निरूपण किया और उनके परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने खण्डन-मण्डन पूर्वक उनका पोषण या निराकरण किया। इस प्रकार काव्यशास्त्र में काव्यात्मा के सम्बन्ध में मुख्य रूप से छः सिद्धान्तों की स्थापना हुई। अपने-अपने समर्थकों के साथ ये सिद्धान्त सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुए।

काव्यशास्त्र के प्रमुख प्रस्थान तथा उनके प्रवर्तक आचार्य:-

रस सिद्धान्त	-	भरत मुनि
रीति सिद्धान्त	-	वामन
अलंकार	-	भामह

ध्वनि सिद्धान्त - आनन्दवर्धन

वक्रोक्ति सिद्धान्त - कुन्तक

औचित्य सिद्धान्त - क्षेमेन्द्र

इस प्रकार काव्यशास्त्र के विकास की यात्रा वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भरतमुनि द्वारा सुदृढ़ रूप से व्यवस्थित हुई तथा भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, वामन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र जैसे आचार्यों के द्वारा इसके विविध आयामों का उन्मेष किया गया। मम्मट, धनञ्जय तथा विश्वनाथ आदि ने इसको पुनर्व्यवस्थित किया। आधुनिक चिन्तक प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. राजेन्द्र मिश्र जैसे आचार्य अपनी रचनाओं से इसके प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

1.2 काव्यशास्त्र के विविध नाम

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र के लिए विविध अभिधानों का उल्लेख मिलता है। वर्तमान में भी इस शास्त्र के अनेक नाम दिये गये हैं। यहाँ कुछ प्रमुख नामों का विवेचन द्रष्टव्य है।

क्रियाकल्प-संस्कृत काव्यशास्त्र का एक नाम क्रियाकल्प भी है। सर्वप्रथम रामायण में काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' पद का प्रयोग करते हुए कहा गया है-

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदोजनान्।

यहाँ प्रयुक्त 'क्रियाकल्पविद्' और 'काव्यविद्' पदों का संबंध काव्यशास्त्र से है। क्रियाकल्प का अर्थ है- काव्य सौन्दर्य की परीक्षा करने में सक्षम तथा काव्यविद् का तात्पर्य है काव्य को जाननेवाले अर्थात् काव्यरस का आनन्द उठाने वाले लोग अर्थात् सहृदय।

आचार्य वात्स्यायन प्रणीत कामशास्त्र में भी क्रियाकल्प पद का प्रयोग काव्यशास्त्र के अर्थ में हुआ है। वहाँ चौसठ कलाओं के वर्णन-प्रसंग में क्रियाकल्प को भी एक प्रमुख कला स्वीकार किया गया है।

क्रियाकल्प में प्रयुक्त क्रिया का अर्थ है-काव्यग्रन्थ तथा कल्प का अर्थ है-विधान। इस प्रकार काव्यग्रन्थों का विधान करने वाला शास्त्र क्रियाकल्प है। आचार्य जयमंगला ने क्रियाकल्प के विषय में लिखा है-

क्रियाकल्प इति काव्यकारणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः।

काव्यालंकार-काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य भामह, वामन तथा रुद्रट के ग्रन्थों का नाम काव्यालंकार है। इन ग्रन्थों में काव्य के विविध विषयों के साथ अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। आचार्य वमन ने अलंकार के सम्बन्ध में लिखा है-**काव्यं ग्राह्यमलंकरात्। सौन्दर्यमलंकारः।** (काव्यालंकारसूत्र)। स्पष्ट है कि अलंकार पद सौन्दर्य का वाचक है। काव्य में सौन्दर्य का आधान दो प्रकार से होता है-1. अलंकारों से 2. अलंकार भिन्न रसादि से। अर्थात् काव्य में सौन्दर्य की प्रधानता होती है। सौन्दर्य के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों को काव्यालंकार इसलिए कहते हैं कि इनमें काव्यगत सौन्दर्य सामग्री का विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य की विवेचना करने के कारण इस विधा का नाम काव्यालंकार पड़ा। यह नाम बहुत प्रसिद्ध हुआ तथा अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नाम काव्यालंकार रखा।

अलंकारशास्त्र-भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का विवेचन किया है-उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक। बाद में अलंकारों का व्यापक विस्तार हुआ। आचार्य भामह ने 38 अलंकारों (दो शब्दालंकार तथा 36 अर्थालंकार) का निरूपण किया तथा काव्य में अलंकारों की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार रखा। उनका मानना है कि जिस प्रकार आभूषणों के बिना कामिनी का मुख सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में काव्य सुशोभित नहीं होता है-

न कान्तमपि निर्भूषणं विभाति वनितामुखम्।

आचार्य भामह के द्वारा काव्य में अलंकार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिये जाने के बाद अनेक आचार्यों ने उनके मत का समर्थन किया तथा उसका गहन विवेचन प्रारम्भ हो गया। दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों का अलंकारों के विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन आचार्यों ने न केवल अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन किया, अपितु इसको काव्य का अन्तरंग तत्त्व स्वीकार किया। आचार्य जयदेव तो अलंकार के अभाव में काव्य के काव्यत्व को ही अस्वीकार करते हैं।

उनका कहना है कि जो लोग अलंकाररहित रचना को काव्य मानते हैं, उनका सिद्धान्त उसी तरह निरर्थक है जिस प्रकार उष्णतारहित आग-

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

इस प्रकार काव्यशास्त्र में अलंकारों का पर्याप्त महत्त्व है। काव्यशास्त्र के सभी आचार्य अपने ग्रन्थों में अलंकार विवेचन को समुचित स्थान देते हैं।

प्रतापरुद्रीय की टीका में इस शास्त्र को अलंकारशास्त्र कहा गया है-**यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रम् उच्यते।** यहाँ स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि इस शास्त्र में यद्यपि रस आदि अनेक विषयों का निरूपण किया जाता है परन्तु छत्रि-न्याय से इसको अलंकारशास्त्र कहते हैं। आधुनिक समीक्षकों ने भी इस शास्त्र में अलंकारों की प्रचुरता एवं महत्ता को देखते हुए इसका अलंकारशास्त्र नाम ठीक माना है।

साहित्य और साहित्यशास्त्र

काव्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध नाम साहित्य है। संस्कृत साहित्य में अनेक स्थलों पर काव्यशास्त्र के लिए साहित्य पद का प्रयोग किया गया है। संस्कृत साहित्य में साहित्य पद का प्रयोग सम्पूर्ण काव्य-जगत् के लिए भी किया गया है। श्री भर्तृहरि ने नीतिशतक में साहित्य का प्रयोग काव्य-जगत् के अर्थ में किया है-**साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनः।** यहाँ प्रयुक्त साहित्य पद काव्य-जगत् के लिए है। आचार्य बिल्हण ने भी साहित्य पद का प्रयोग वाङ्मय के लिए किया है तथा साहित्य को काव्य का उद्गम स्वीकार किया है-**साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः** (साहित्य रूपी समुद्र के मन्थन से काव्य रूपी अमृत का उद्गम हुआ।)

आचार्य राजशेखर ने स्पष्ट रूप से साहित्य का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए किया है-**पंचमी <u>साहित्य</u>विद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानामपि निष्यन्दः** (काव्यमीमांसा)। आचार्य मंखक ने भी काव्यमीमांसा के लिए साहित्य पद का प्रयोग किया है-**विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणाः। कथंचित प्रथते कवीनाम्** अर्थात् साहित्यज्ञों के बिना कवियों में काव्य-गुणों का विस्तार नहीं होता है।

इन विवेचनाओं से स्पष्ट है कि राजशेखर के काल में काव्यशास्त्र को साहित्य नाम से अभिहित किया जाता था।

काव्यशास्त्र को साहित्य के साथ-साथ साहित्यशास्त्र भी कहा जाता है।

आचार्य मुकुल भट्ट ने अभिधावृत्तिमात्रिका में स्पष्ट रूप से काव्यशास्त्र को साहित्यशास्त्र नाम से अभिहित किया है-**व्याकरणमीमांसातर्क<u>साहित्या</u>त्मकेषु चतुर्षु <u>शास्त्रे</u>षूपयोगात्।** वस्तुतः साहित्य ही कालान्तर में साहित्यशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ। अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थ के नाम में साहित्य पद का प्रयोग किया। रुय्यक के ग्रन्थ का नाम साहित्यमीमांसा है। कविराज विश्वनाथ का साहित्यदर्पण अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है।

सम्प्रति इस विधा के लिए साहित्य और साहित्यशास्त्र अत्यन्त प्रचलित नाम है। साहित्य पद से शब्द और अर्थ के सम्भाव का द्योतन होता है: 'सहितयोः भावं साहित्यम्' साहित्यशास्त्र नाम से इस विधा के शास्त्रीय पक्ष का प्रकटीकरण होता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी ये दोनों नाम यथोचित है। साहित्यशास्त्र को ही लोग लघु रूप में साहित्य कह देते हैं। इन दोनों नामों में प्रतिपाद्य विषय की अभिव्यञ्जना भी होती है।

<u>काव्यशास्त्र</u>-काव्यशास्त्र से तात्पर्य है काव्य का शास्त्र-**काव्यस्य शास्त्रं काव्यशास्त्रम्।** यहाँ शास्त्र से तात्पर्य है-**शासनात् शास्त्रम्, शिष्यतेऽनेन इति शास्त्रम्।** अर्थात् विधि-निषेध का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र होता है। आचार्य भोजदेव ने सरस्वती-कण्ठाभरण में शास्त्र के सम्बन्ध में लिखा है-

यद् विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तिरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥

जो विधि और निषेध में ज्ञान का कारण होता है, उसको जानना चाहिए, उसका अध्ययन करना चाहिए क्योंकि उसी से लोकव्यवहार का प्रवर्तन होता है। यहाँ शास्त्र को ही विधि और निषेध का प्रवर्तक कहा गया है। इस प्रकार काव्यशास्त्र का तात्पर्य है-काव्य के सम्बन्ध में विधि और निषेध का नियमन करने वाला। संस्कृत साहित्य में 'काव्यशास्त्र' पद का सर्वप्रथम प्रयोग भोजराज ने किया है।

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च <u>काव्यशास्त्रं</u> तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥

सरस्वतीकण्ठाभरण 2.139

यहाँ 'काव्यशास्त्र' पद का स्पष्ट प्रयोग है तथा इसको विधि और निषेध का निर्देश करने वाला बताया गया है।

इस तथ्य से स्पष्ट है कि भोजराज के काल तक काव्यशास्त्र का पूर्ण

विकास हो गया था। आचार्य-गण अन्य शास्त्रों के समान ही काव्यशास्त्र को महत्व स्वीकार करने लगे थे। परन्तु कुछ विद्वान् काव्यशास्त्र में प्रयुक्त 'शास्त्र' पद का तात्पर्य प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रतिपादन करना नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यहाँ शास्त्र का अर्थ रहस्य प्रतिपादन है। अर्थात् काव्यशास्त्र में काव्य-रहस्यों का प्रतिपादन किया जाता है। काव्य का रहस्य रस है। समस्त काव्य-सामग्रियों का प्रयोजन रस-निष्पत्ति ही है। आचार्य मम्मट ने भी रसानुभूति को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन माना है – **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्** (काव्यप्रकाश का॰ 2 की वृत्ति)।

शास्त्र का अर्थ रहस्य प्रतिपादक मानने पर भी काव्यशास्त्र नाम अत्यन्त समीचीन है। साहित्यशास्त्र के लिए प्रयुक्त होने वाले नामों में यह नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस नाम की एक और विशेषता है। इस नाम में कवि की प्रधानता है। 'कवेः कर्म' काव्यम् अर्थात् कवि का कर्म काव्य है। इस प्रकार कवि के कर्म से सम्बन्धित शास्त्र काव्यशास्त्र है।

सौन्दर्यशास्त्र

आधुनिक काल के प्रसिद्ध काव्य-समीक्षक डॉ. कान्तिचन्द पाण्डेय ने काव्यशास्त्र के लिए सौन्दर्य-शास्त्र नाम का प्रयोग किया। डॉ. पाण्डेय के इस प्रयोग को समकालीन समीक्षकों ने अत्यन्त गम्भीरता से लिया तथा इस नाम को अपनी सहमति प्रदान की।

इस नामकरण का अपना आधार है। आधुनिक समीक्षकों ने एक मत से स्वीकार किया है कि सौन्दर्य तत्त्व ही काव्य को अन्य विधाओं से पृथक् करता है। सौन्दर्य के अभाव में काव्य भी इतिहास, भूगोल आदि के समान केवल ज्ञान प्रदायक विधा है। काव्य में सौन्दर्य आधान के लिए ही कविगण अपनी रचनाओं में गुण, अलंकार, रीति, रस आदि तत्त्वों का समावेश करते हैं। आचार्य वमन के अनुसार तो सौन्दर्य ही अलंकार है तथा अलंकारजन्य सौन्दर्य के कारण ही काव्य काव्य कहलाता है। – **सौन्दर्यमलंकारः। काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।** इतना ही नहीं वे गुण को भी काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाला मानते हैं – **काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।**

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि के स्वरूप की स्पष्टता के लिए सुन्दरियों के सौन्दर्य की उपमा देते हैं- **यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।**

एक स्थल पर वे स्पष्ट शब्दों में ध्वनि को ललित अर्थात् सुन्दर शब्द से अभिहित करते हैं –

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः।

आचार्य अभिनवगुप्त बड़ी स्पष्टता के साथ काव्य के लिए सौन्दर्य को परमावश्यक तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार ध्वन्यात्मक होने पर भी गुण, अलंकार और औचित्य से सुन्दर शब्दार्थ शरीर वाला काव्य ही काव्य रूप में व्यवहृत हो सकता है –

गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वन्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारम्।

अर्थात् ध्वनि होने पर भी सौन्दर्य के अभाव में शब्दार्थ को काव्य नहीं कह सकते हैं। वे ध्वनि को सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि चारुत्व की प्रतीति ही काव्य की आत्मा है –

चारुत्वप्रीतीतिः तर्हि काव्यस्यात्मा इति।

पण्डितराज जगन्नाथ का काव्य लक्षण ही सौन्दर्यपरक है – **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।** अर्थात् वही शब्द काव्य कहला सकता है, जिसमें रमणीय अर्थ के प्रतिपादन की क्षमता है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के लिए सौन्दर्य शास्त्र का अभिधान तर्कसंगत तथा प्रमाणसंगत है। इसमें काव्य के समस्त अंतरंग तथा बहिरंग तत्त्वों का समावेश है।

आलोचनाशास्त्र तथा समीक्षाशास्त्र

काव्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है – साहित्य की समीक्षा तथा नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना एवं स्थापना। संस्कृत काव्यशास्त्र में यह काम प्राचीन काल से होता आ रहा है। इसी का परिणाम है कि कालक्रम से काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य एवं वक्रोक्ति जैसे सिद्धान्तों का विकास हुआ तथा साहित्य के अनेक नए-नए तत्त्वों का उन्मेष हुआ। काव्यशास्त्र के ये सिद्धान्त एवं तत्त्व वस्तुतः साहित्य की समीक्षा के मानदण्ड हैं। इन्हीं मानदण्डों को आधार बनाकर काव्यों की समीक्षा की जाती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड मानकर कहा है कि नानाविध कविपरम्पराशाली इस संसार में कालिदास आदि दो तीन अथवा पाँच-छः ही महाकवि गिने जाते हैं –

येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते (ध्वन्यालोक)।

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य की आलोचना अथवा समीक्षा करने के कारण ही इसको आलोचनाशास्त्र या समीक्षाशास्त्र कहते हैं। इस प्रकार काव्य-तत्त्व के निरूपक इस विद्या के लिए क्रियाकल्प, काव्यालंकार, साहित्य, साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, आलोचना तथा समीक्षाशास्त्र जैसे अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन नामों का अपना तर्क है। परन्तु वर्तमान में इस विधा के लिए काव्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र प्रचलित नाम है।

1.3 काव्य-लक्षण

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

काव्यप्रकाश सूत्र 1

अनुवादः- दोषों से रहित, गुण-युक्त और कहीं अलंकार रहित भी शब्द और अर्थ काव्य कहलाता है।

वृत्ति-**क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।**

अनुवादः- 'क्वापि' इस पद से यह कहते हैं कि सब जगह अलंकार युक्त परन्तु कहीं पर स्पष्ट अलंकार न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।

उदाहरण-

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा -
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥
अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः रसस्य प्राधान्यान्नलंकारता।

अनुवादः- कोई नायिका कहती है कि जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया, वही मेरा पति है, वही चैत्र की रात्रि है, वही खिली हुई मालती लताओं की सुगन्ध से सुगन्धित प्रौढ़ कदम्बवृक्ष की हवाएँ (बह रही है) तथा मैं भी वही हूँ, फिर भी वहाँ नर्मदा नदी के तट पर वेत के पेड़ के नीचे सुरत-व्यापार की लीला के लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।

यहाँ कोई स्पष्ट अलंकार नहीं है। रस की प्रधानता के कारण (रसवत्) अलंकार भी नहीं कहा जा सकता है।

विमर्शः-आचार्य मम्मट के अनुसार दोष-रहित, गुणयुक्त तथा अलंकार युक्त शब्दार्थ काव्य है। परन्तु कहीं-कहीं स्फुट अलंकार के बिना भी काव्य हो सकता है। इस लक्षण में शब्दार्थ को काव्य कहा गया है - **(शब्दार्थौकाव्यम्)** परन्तु अकेला शब्द या अकेला अर्थ काव्य नहीं हो सकता है। शब्द और अर्थ की समष्टि ही काव्य है। वे ही शब्दार्थ काव्य कहलाने के अधिकारी होते हैं, जो दोषरहित हों, गुणयुक्त हों तथा अलंकार युक्त हों परन्तु कहीं पर स्फुट अलंकार के बिना भी काव्य हो सकता है। इस प्रकार 'अदोषौ', 'सगुणौ' तथा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' ये तीन शब्दार्थ के विशेषण हैं।

अदोषौ- अदोषौ का तात्पर्य है दोष से रहित। काव्यशास्त्र में श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति आदि पद- दोष, प्रतिकूलवर्णता, उपहतविसर्गता आदि वाक्यगत-दोष, अपुष्ट, व्याहत आदि अर्थगत दोष तथा व्यभिचारी, रस तथा स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता आदि रसदोष का विशद विवेचन किया गया है। आचार्य मम्मट ने स्वयं अपनी रचना काव्यप्रकाश में इन दोषों का सांगोपांग वर्णन किया है। काव्य को इन दोषों से रहित होना चाहिए। वस्तुतः काव्य में रस की प्रधानता होती है। रसास्वाद कराना ही काव्य का लक्ष्य होता है। इसलिए रसास्वादन में बाधक तत्त्वों से मुक्त होना काव्य के लिए आवश्यक है। आचार्य मम्मट ने इसी दृष्टि से अपने काव्य लक्षण में अदोषौ पद का प्रयोग किया है।

सगुणौ- आचार्य मम्मट प्रदत्त काव्य-लक्षण में प्रयुक्त दूसरा पद है - **सगुणौ** अर्थात् गुणयुक्त। इसका अभिप्राय है कि जिन शब्दार्थ युगल से काव्य का निर्माण होता है, उनका गुणयुक्त होना आवश्यक है। काव्यशास्त्र में प्रसाद, माधुर्य और ओज नाम से तीन गुण स्वीकार किये गये हैं। इन गुणों को रस का स्थायी धर्म स्वीकार किया गया है। आचार्यों का मानना है कि काव्य में रसोत्पत्ति गुण के कारण ही होती है -

गुणाः नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुत्पत्तेः। गुण के अभाव में काव्य में रसोत्पत्ति नहीं हो सकती है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रसादादि गुण रस का धर्म उसी प्रकार से है, जिस प्रकार से शूरता, वीरता आदि व्यक्ति के गुण उसकी आत्मा में होते हैं।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः॥

गुण और रस के बीच समवाय सम्बन्ध है। गुण के बिना काव्य में रसोत्पत्ति की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। इसलिए आचार्य मम्मट गुण को काव्य का अनिवार्य धर्म स्वीकार करते हैं। गुणयुक्त होने पर ही शब्द और अर्थ काव्य की पदवी प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं।

अनलंकृती पुनः क्वापि- 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अर्थ है - कहीं कहीं अलंकार के बिना भी। आचार्य मम्मट इस पद पर वृत्ति लिखकर स्पष्ट करते हैं - **सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।** अर्थात् सभी काव्यों को अलंकारयुक्त होना चाहिए। परन्तु यदि कहीं पर स्पष्ट अलंकार न हो तब भी काव्य की कोई हानि नहीं होती है। आचार्य मम्मट के इस कथन का अभिप्राय है कि अलंकार के अभाव में भी यदि शब्दार्थमय काव्य से रस का सम्यक् आस्वादन हो रहा हो तो ऐसे शब्दार्थ काव्य होते हैं।

काव्य में अलंकार होना चाहिए। परन्तु यह शर्त वैकल्पिक है। अलंकार के अभाव में भी काव्य हो सकता है। काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य अलंकार को काव्य का शोभावर्धक मानते हैं तथा गुण को शोभाधायक। आचार्य वामन ने अपनी रचना काव्यालंकारसूत्र में गुण और अलंकारों के भेद को स्पष्ट किया है -

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥

काव्य की शोभा रस है। काव्य में रसाधान गुण से होता है तथा अलंकार उसी शोभा को बढ़ाने का काम करता है। कभी-कभी तो अत्यधिक अलंकार काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने के स्थान पर भारस्वरूप हो जाता है इसलिए आचार्य मम्मट अलंकार को गुण के समान काव्य का अपरिहार्य तत्त्व नहीं मानते हैं।

आचार्य मम्मट अपने मत के समर्थन में **यः कौमारहर**- 'श्लोक का उदाहरण देते हैं।

इस पद्य में स्फुट अलंकार नहीं है। रस के गौण होने पर रसवत् अलंकार होता है। परन्तु यहाँ रस गौण नहीं, प्रधान है। श्रृंगार रस की स्पष्ट अनुभूति हो रही है। अतः रसवत् अलंकार भी नहीं है। परन्तु अलंकार के अभाव में भी इस पद्य की काव्यता में कोई संशय नहीं है।

इस प्रकार दोषरहित, गुणयुक्त तथा कहीं-कहीं अलंकार से रहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। आचार्य मम्मट का यह लक्षण रस को केन्द्र में रखकर दिया गया है। परन्तु परवर्ती आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने इस लक्षण-वाक्य में प्रयुक्त 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' की आलोचना की है। आचार्य विश्वनाथ लक्षणवाक्य में 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' के प्रयोग को ठीक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार कोई भी काव्य सर्वथा दोषहीन नहीं हो सकता है। लक्षण-वाक्य में सगुणौ की जगह सरसौ पद का प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने मम्मट प्रदत्त उदाहरण - '**यः कौमारहरः**' में विभावना तथा विशेषोक्ति अलंकार को दिखाकर -'**अनलंकृती पुनः क्वापि**' का भी खंडन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ' पद का खंडन किया है। शब्द और अर्थ की समष्टि में काव्यत्व नहीं होता है, अपितु केवल शब्द में ही काव्यत्व रहता है। इसीलिए उन्होंने काव्य की परिभाषा दी है - **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** (रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य होता है। परन्तु आधुनिक समीक्षक आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ के मत से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि आचार्य मम्मट प्रदत्त काव्य-लक्षण में कोई त्रुटि नहीं है।

प्रमुख आचार्यों द्वारा दिये गये काव्यलक्षण:-

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। - भामह
2. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। - वामन
3. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। - रुद्रट
4. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली। - दण्डी
5. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। - विश्वनाथ
6. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। - जगन्नाथ
7. संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद् दोषवर्जितम्।। अग्निपुराण
8. शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। आनन्दवर्धन
9. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। हेमचन्द्र

10\. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं, तद्विदाह्लादकारिणी। कुन्तक

11\. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिंप्रीतिं च विन्दति। भोजराज

1.4 काव्य-हेतु

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

काव्यप्रकाश कारिका 3

अनुवाद:- शक्ति, लोक-शास्त्र-काव्य आदि के अध्ययन से प्राप्त निपुणता तथा काव्यज्ञ से प्राप्त शिक्षा काव्य की उत्पत्ति के कारण हैं।

वृत्तिः- **शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकला चतुर्वर्ग-जतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।**

अनुवाद:-शक्ति कवित्वबीजरूप संस्कार विशेष है, जिसके बिना काव्य की रचना नहीं हो सकती है और यदि रचना हो भी जाए तो वह उपहसनीय होती है। लोक का अर्थ है - स्थावर और जङ्गम रूप संसार का व्यवहार, शास्त्र से तात्पर्य है - छन्द, व्याकरण, शब्दकोश, कला, चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), हाथी-घोड़े एवं खड्ग आदि के लक्षण ग्रन्थ। 'काव्यानां' का अर्थ है महाकवियों से सम्बन्धित (काव्य)। आदि से इतिहासादिक प्रतिपादक ग्रन्थ का ग्रहण होता है।

इन सबके विमर्श को व्युत्पत्ति कहते हैं। काव्य की रचना करना तथा उसके गुण-दोष का विचार करने वाले जो लोग हैं उनके उपदेश से काव्य की रचना तथा पुनर्संयोजित करने का बार-बार अभ्यास करना। इस प्रकार ये तीनों (प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास) अलग-अलग नहीं, अपितु सम्मिलित रूप से काव्य के निर्माण तथा विकास में कारण हैं।

विमर्श - आचार्य मम्मट ने काव्य-कारण के रूप में तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है– (i) प्रतिभा, (ii) सांसारिक विषय, विविध शास्त्र तथा काव्य आदि के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान तथा (iii) काव्य के तत्त्वों के जानने वाले काव्यज्ञ पुरुषों के सान्निध्य में बारम्बार अभ्यास। इन तीनों के एक साथ मिलने पर ही काव्य की रचना हो पाती है अर्थात् ये तीनों सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु हैं।

शक्ति या प्रतिभा कवित्व का बीज है। यह बीज संस्कार विशेष के रूप में कवियों में पहले से ही विद्यमान रहता है। इसके बिना काव्य की रचना नहीं हो सकती है। यदि कोई हठात् इसके बिना भी काव्य-रचना का प्रयास करता है तो ऐसा काव्य लोगों के बीच उपहसनीय होता है। लौकिक विषयों का अच्छा ज्ञान, ऋषि प्रणीत छन्द, व्याकरणादि शास्त्र, श्रेष्ठ कवियों के काव्य तथा इतिहास-पुराणादि के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान **निपुणता** है।

काव्य तत्त्व को जानने वाले तथा काव्य की रचना करने वाले महापुरुषों के निर्देश में बार-बार काव्य लिखना तथा उनके परामर्श से उसमें संशोधन करना **अभ्यास** है।

प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास काव्य निर्माण के परमावश्यक हेतु हैं। ये तीनों एक साथ काव्य के कारण हैं। इनमें से एक के अभाव में भी सत्काव्य की रचना नहीं हो सकती है।

आचार्य मम्मट काव्य की रचना के लिए शक्ति, निपुणता और अभ्यास को परमावश्यक मानते हैं। वे इन तीनों को काव्य-हेतु कहते हैं।

शक्ति - आचार्य मम्मट शक्ति की परिभाषा देते हुए लिखते हैं - **शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः**। अर्थात् शक्ति कवित्व का बीज है तथा यह संस्कार विशेष रूप में कवियों में जन्मजात विद्यमान रहती है। इसका तात्पर्य है कि शक्ति को अर्जित करने के लिए प्रयास करने की जरूरत नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि शक्ति प्रतिभा का अपर नाम है। आचार्यों ने प्रतिभा को नैसर्गिक माना है। आचार्य कुन्तक ने तो स्पष्ट कहा है कि पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली विशिष्ट कवित्व शक्ति प्रतिभा है। **प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।**

आचार्य मम्मट का मानना है कि काव्य के हेतुत्रय में प्रतिभा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। निपुणता और अभ्यास के बाहुल्य होने पर भी प्रतिभा के अभाव

में काव्य रचना नहीं हो सकती है। प्रतिभा के अभाव में निम्नकोटि के काव्यों की रचना हो पाती है जिससे कवि और काव्य दोनों का उपहास होता है - **यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।**

आचार्य भट्टतौत ने प्रतिभा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी है - **प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।** अर्थात् प्रतिभा नये-नये अर्थों का उन्मेष करने वाली होती है। प्रतिभा के द्वारा ही कवि नूतन कल्पनाएँ करता है, पुरातन कथा को नवीन बना देता है तथा काव्य में रस का सन्निवेश करता है। काव्य रचना में प्रतिभा की प्रधानता को सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। आचार्य भामह कहते हैं - **काव्यं तु जायते जातु कस्यचिद् प्रतिभावतः।** अर्थात् प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही काव्य की रचना कर सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा को काव्यगत दोषों को दूर करने का साधन माना है। प्रतिभा की श्रेष्ठता बताते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि यदि कोई व्युत्पत्ति के बिना काव्य-रचना करता है और उसमें अव्युत्पन्न दोष आ जाता है तो भी प्रतिभा के द्वारा वह दोष छुप जाता है परन्तु प्रतिभा के अभाव में लिखा गया काव्य अन्तस्तात्त्वशून्य होता है-

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।

निपुणता - निपुणता को व्युत्पत्ति भी कहते हैं। निपुणता वस्तुतः विविध शास्त्र एवं लोक का गहन अध्ययन कर अर्जित ज्ञान है। प्रतिभा जहाँ ईश्वरप्रदत्त है, वहीं निपुणता कवि के द्वारा अध्ययन एवं अनुभव से अर्जित की जाती है। आचार्य स्वयं कहते हैं - **लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता।** अर्थात् लोक, शास्त्र तथा काव्यादि के अध्ययन तथा चिन्तन से कवि में निपुणता आती है। यहाँ लोक से तात्पर्य है संसार के जड़ एवं चेतन प्राणियों के व्यवहार का अध्ययन। यह संसार अनन्त विषयों से परिपूर्ण है। काव्य-रचना के समय न जाने कवि को किस विषय का वर्णन करना पड़ जाए। इसलिए कवि को चाहिए कि वह संसार के समस्त जड़जङ्गम अवयवों का अध्ययन कर उनको आत्मसात् करे।

आचार्य मम्मट शास्त्र को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - **शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्ग-गजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थाः** अर्थात् छन्द, व्याकरण अभिधानकोश, कला, चतुर्वर्ग, गज, तुरग, खड्ग आदि से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन करने से कवि में निपुणता आती है।

काव्य-रचना के लिए छन्द का ज्ञान परमावश्यक है। विशेषकर पद्य काव्य की रचना तो छन्द-ज्ञान के बिना सम्भव ही नहीं है। संस्कृत तथा अन्य साहित्य में छन्दोबद्ध काव्य-रचना की परम्परा रही है। परन्तु आजकल वृत्त ज्ञान के अभाव में वृत्तविहीन पद्यकाव्य लिखे जा रहे हैं। वृत्त के लिए आचार्य पिंगल प्रणीत **छन्दः शास्त्र** का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है।

व्याकरणशास्त्र के अध्ययन से शब्दों के सम्यक् प्रयोग तथा प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान होता है। समुचित शब्द-प्रयोग काव्य-निर्माण की आधारशिला है। इसलिए आचार्य पाणिनि प्रणीत व्याकरणशास्त्र का गहन अध्ययन करना कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। **अभिधान** कोश शब्दार्थ ज्ञानमय होता है। इसमें शब्दों के विविध अर्थ दिए जाते हैं। आचार्य अमर सिंह प्रणीत अमरकोश में संज्ञा शब्दों के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। इस प्रकार शब्दकोश का अध्ययन कर अपनी शब्द-राशि का विस्तार करना चाहिए।

कला - नृत्य गीतादि 64 कलाएँ प्रसिद्ध हैं। इन कलाओं के प्रतिपादक ग्रन्थों का अध्ययन कर इनके विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

चतुर्वर्ग - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चतुर्वर्ग कहते हैं। धर्म के प्रतिपादक शास्त्रों में मीमांसा तथा मनु-याज्ञवल्क्य प्रणीत स्मृतिशास्त्र तथा पुराण आते हैं। अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों में गर्गादि ऋषि प्रणीत अर्थशास्त्र आता है। वात्स्याय मुनि प्रणीत कामसूत्र कामशास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

सांख्य, वेदान्त, न्याय तथा योग दर्शन को मोक्षशास्त्र स्वीकार किया जाता है। इनमें मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को पुरुषार्थचतुष्ट्य कहा गया है। एक अच्छे कवि के लिए पुरुषार्थचतुष्ट्य का ज्ञान आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

इसी प्रकार गजशास्त्र, अश्वशास्त्र तथा खड्गशास्त्र आदि के प्रतिपादक ग्रन्थों का पर्यालोचन करना कवि के लिए आवश्यक है।

महाकवियों के काव्यों के अध्ययन से काव्य-रचना की दृष्टि मिलती है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने निपुणता के अन्तर्गत महाकवियों के काव्यों के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण बताया है - **काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्।**

इसके अतिरिक्त जितने भी शास्त्र उपलब्ध हो उन सबका गहन अध्ययन

कर उनके विषयों का सम्यक् ज्ञान रखना चाहिए। ये सभी निपुणता की श्रेणी में आते हैं।

अभ्यास - किसी भी कार्य में दक्षता प्राप्ति के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। अभ्यास हमेशा किसी के निर्देशन में करना चाहिए। काव्य-रचना के लिए बार-बार अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। आचार्य मम्मट अभ्यास को काव्य-हेतु में स्थान देते हुए लिखते हैं - **काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिः।** अर्थात् काव्य रचना के जिज्ञासु कवि को चाहिए कि वह श्रेष्ठ काव्य की रचना करने वाले तथा काव्य के गुण-दोष की विवेचना करने में समर्थ विद्वान् के सान्निध्य में काव्य की रचना करे, विद्वान् कवि के द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करे तथा काव्य-दोषों का परिमार्जन करे। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से काव्य रचना में प्रौढ़ता आती है।

शक्ति, निपुणता और अभ्यास सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु हैं। इनमें आचार्य मम्मट यद्यपि प्रतिभा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं परन्तु उनका यह भी मानना है कि ये तीनों सम्मिलित रूप से ही काव्य के कारण हैं। इनमें से किसी एक के अभाव में भी काव्य का निर्माण नहीं हो सकता है। इसलिए लिखते हैं - **इति हेतुस्तदुद्भवे।** यहाँ **'हेतुः'** में एक वचन का प्रयोग किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि तीनों मिलकर काव्य का कारण बनते हैं, अलग-अलग नहीं। आचार्य मम्मट ने वृत्ति में और स्पष्ट किया है - **हेतुः न तु हेतवः।**

शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास की हेतुता दण्डचक्रचीवर न्याय से है। जिस प्रकार घट रूप कार्य के प्रति दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल तथा मृत्तिका सभी मिलकर कारण बनते हैं। इनमें से एक के अभाव में भी घट का निर्माण नहीं हो सकता है। उसी प्रकार काव्य रूप कार्य के प्रति प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की हेतुता है। इनमें से एक के अभाव में भी काव्यरूप कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता है।

प्रमुख आचार्यों द्वारा दिये गये काव्य-लक्षण -

1. काव्यं तु जायते जातु कस्यचिद् प्रतिभावतः।
   शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
   विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥ - भामह
2. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
   अमन्दाश्चाभियोगेऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ - दण्डी
3. त्रितयमिदं व्याप्रियते: शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः। रुद्रट
4. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्यांगानि। वामन
5. न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः। आनन्दवर्धन
6. प्रतिभाव्युत्पत्ति मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः।
   प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते। राजेश्वर
7. प्रतिभा अस्य हेतुः। हेमचन्द्र
8. प्रतिभैवकेवला कारणम्। पण्डितराज जगन्नाथ

1.5 काव्य-प्रयोजन

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

काव्यप्रकाश, कारिका 2

अनुवादः - काव्य यश के लिए, धन के लिए, व्यवहार ज्ञान के लिए, अमंगल के नाश के लिए, शीघ्र ही परमानन्द की प्राप्ति के लिए और कान्ता सम्मित उपदेश देने के लिए होता है।

वृत्ति-**कालिदासादीनामिव यशः श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम् आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थ निवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलित-वेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थ-तात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापार प्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म यत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादि-वदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।**

अनुवाद:- (काव्य) कालिदासादि के समान यश, राजा श्रीहर्ष से कवि धावक के समान धन, राजा इत्यादि के साथ किये जाने योग्य आचार का ज्ञान, सूर्यादि से मयूरादि के समान अनर्थनिवारण, सभी प्रयोजनों में श्रेष्ठ, तुरन्त ही काव्य रस के आस्वादन से उत्पन्न वेद्यान्तरस्पर्शशून्य आनन्द की अनुभूति, प्रभुसम्मित शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से तथा सुहृत्सम्मित अर्थप्रधान पुराण इतिहासादि से विलक्षण, शब्द और अर्थ के गौण हो जाने से तथा रस के अङ्गभूत व्यापार में प्रवण (तत्पर) होने के कारण लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म जो काव्य होता है, वह कान्ता के समान सरसता उत्पादन के द्वारा अपनी ओर उन्मुख करके 'राम के समान व्यवहार करना चाहिए, रावण के समान नहीं' इस प्रकार यथायोग कवि और सहृदय का उपदेश करता है। उस काव्य के विषय में सब प्रकार से यत्न करना चाहिए।

विमर्श - काव्य सर्जक कवि को यश तथा धन प्रदान करता है। पाठक को काव्य पाठ से समुचित व्यवहार ज्ञान प्राप्त होता है। यह कवि और पाठक के अमंगल का नाश करने वाला होता है। काव्य का प्रमुख प्रयोजन रसास्वादन है। काव्य रस के आस्वादन से परमानन्द की प्राप्ति होती है। यह शब्दप्रधान वेदादिशास्त्र तथा अर्थप्रधान पुराणादि से विलक्षण कान्तासम्मित उपदेश देता है। इसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न ही अर्थ की अपितु ये दोनों गौण होते हैं तथा रस प्रमुख होता है। लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म ही काव्य है तथा यह उपदेश देता है कि राम के जैसा व्यवहार करना चाहिए, रावण के जैसा नहीं। इस प्रकार इन विशेषताओं से युक्त काव्य में कवि और पाठक दोनों को यत्न करना चाहिए। पाठक श्रेष्ठ काव्यों का पाठ करें तथा कवि श्रेष्ठ काव्यों की रचना करें।

आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं -

1. यश	2. धन
3. व्यवहार ज्ञान	4. अमंगल नाश
5. परमानन्द	6. कान्तासम्मित उपदेश

इन छः प्रयोजनों पर विचार करने पर इन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है-

1. कविगत (कवि के लिए) - यश, धन
2. पाठकगत (पाठक के लिए) - व्यवहार ज्ञान, कान्तासम्मित उपदेश

3. उभयगत (कवि और पाठक दोनों के लिए) - परमानन्द की प्राप्ति, अमंगल नाश

1. **यश**–काव्य के निर्माण से कवि को यश की प्राप्ति होती है। कालिदास, भास, भवभूति, भारवि, माघ आदि को काव्य रचना से अभूतपूर्व यश प्राप्त हुआ। ये महाकवि आज हमारे मध्य विराजमान नहीं है। आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व इनका काल था परन्तु आज भी हम उनकी काव्यकला तथा विद्वता की प्रशंसा करते हैं। उनके द्वारा लिखा गया काव्य हमारे लिए आज भी साहित्य और समाज दोनों ही क्षेत्र में पथप्रदर्शक का काम कर रहा है। इनके द्वारा किये गये अन्य कार्य गौण हो गये, परन्तु उनका काव्य रूप कार्य आज भी लोक में समादृत है। कहा भी गया है **कीर्तिर्यस्य स जीवति।** यशलिप्सा तो मनुष्य के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता है। काव्य रचना यशोपलब्धि का अच्छा साधन है।

धन - काव्य रचना से कवि को धन की प्राप्ति होती है। प्राचीन काल में राजा तथा समाज के अमीर लोग कवियों को उनकी श्रेष्ठ रचना के लिए सम्मानित तथा पुरस्कृत करते थे। कवियों को राज्याश्रय भी मिलता था। आचार्य मम्मट ने धावक कवि का उदाहरण दिया है। राजा श्रीहर्ष ने धावक कवि को उसकी रचना के लिए धन दिया था। ऐसा कहा जाता है कि धावक कवि ने रत्नावली नाम से एक नाटिका लिखी थी। बाद में कवि ने उस नाटिका को राजा हर्ष के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। इससे प्रसन्न होकर राजा हर्ष ने कवि को बहुत धन दिया था। यदि यह बात सत्य है तो काव्य से धन प्राप्ति का यह उदाहरण समचीन नहीं है। इसको साहित्यिक चोरी कहा जाता है। परन्तु काव्य रचना से धन की प्राप्ति अनेक रूपों में होती है -

(1) **पुरस्कार से**–अच्छी रचनाओं को अनेक संस्थाएँ पुरस्कार स्वरूप धन देती हैं। साहित्य का नोबल पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार तथा अन्य ऐसे ही पुरस्कार प्रतिवर्ष श्रेष्ठ लेखकों को उनकी रचनाओं के लिए दिये जाते हैं।

(2) **काव्य के विक्रय से**–प्रकाशक काव्य के मूल्य का एक अंश रोयल्टी के रूप में लेखक को देता है। यश और धन कविगत है। ये दोनों केवल कवि को प्राप्त होते हैं।

व्यवहार ज्ञान - मानव जीवन में व्यवहार के तौर-तरीकों का बड़ा महत्व है। महान शिक्षित व्यक्ति भी सम्यक् व्यवहार के अभाव में निन्दित होता है तथा

अच्छे आचरण और व्यवहार में कुशल कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी सम्मान पाता है। काव्य व्यवहार सीखने का एक अच्छा स्रोत है। काव्य पढ़कर तथा नाटक देखकर, राजा, मंत्री, मुनि, आदि के साथ सम्यक् आचरण की शिक्षा मिलती है।

अमङ्गल का नाश - आचार्य मम्मट ने इसको **'शिवेतरक्षतये'** कहा है। कहा जाता है कि मयूर कवि ने सूर्यशतक नाम के काव्य की रचना कर अपने अमङ्गल को दूर किया था। एक प्राचीन कथा के अनुसार मयूर के अनुचित व्यवहार से क्रुध होकर बाणभट्ट की पत्नी ने उनको शाप दे दिया। उस शाप के प्रभाव से मयूर को कुष्ठ रोग हो गया। बाणभट्ट के सलाह पर मयूर ने सूर्य की उपासना की तथा सूर्यशतक नाम से सूर्यस्तोत्र की रचना की। इसके बाद उनका कुष्ठ रोग ठीक हो गया। विशेष कर स्तोत्रकाव्य की रचना तथा पाठ से अशिव के निवारण की बात कही जाती है।

परमानन्द की प्राप्ति - काव्य का मूल उद्देश्य रसास्वादन है। रसास्वादन में परमानन्द की अनुभूति होती है। इस परमानन्द की अनुभूति में व्यक्ति समस्त दुःख परेशानियों को भूल जाता है तथा एक मात्र रसानन्द की अनुभूति में तल्लीन रहता है। रसानन्द प्राप्ति का एकमात्र स्रोत काव्य है। काव्य के समस्त प्रयोजनों में रसास्वादन रूप प्रयोजन सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए आचार्य मम्मट इस प्रयोजन को सकलप्रयोजनमौलिभूत कहते हैं - **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।**

कान्तासम्मित उपदेश - काव्य कान्ता के समान उपदेश देता है। शास्त्र में तीन प्रकार की उपदेश शैली प्रसिद्ध हैः-

1. प्रभुसम्मित 2. सुहृत्सम्मित तथा 3. कान्तासम्मित

प्रभुसम्मित उपदेश शब्द प्रधान होता है। यह वस्तुतः उपदेश न होकर आदेश वाक्य होता है। वेदादि शास्त्रों के वचन ऐसे ही उपदेश है। इसीलिए मम्मट कहते हैं - **प्रभुसम्मित शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः**। इसमें जो कहा जाता है उसका अक्षरशः पालन करना होता है।

उपदेश की दूसरी शैली है - **सुहृत्सम्मित**। इतिहास-पुराणादि की शैली सुहृत्सम्मित है। इसमें शब्द के स्थान पर अर्थ की प्रधानता होती है। इसमें तात्पर्य पर विशेष बल दिया जाता है। सुहृत्सम्मित को स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट

लिखते हैं - **सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च**। यहाँ सुहृत् का अर्थ है - मित्र। इसमें मित्र के समान उपदेश दिया जाता है। जिस प्रकार मित्र उचित और अनुचित का उपदेश देता है। उसी प्रकार पुराण-इतिहासादि कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देते हैं।

कान्तासम्मित- कान्तासम्मित उपदेश में न शब्द की प्रधानता होती है और न ही अर्थ की प्रधानता होती है। इन दोनों से भिन्न रस के अंगभूत व्यञ्जना व्यापार की प्रधानता है। कान्ता प्रियतमा को कहते हैं। प्रियतमा जब किसी कार्य में अपने प्रियतम को प्रवृत्त करना चाहती है तब वह उस कार्य को सरस बनाकर प्रस्तुत करती है। कान्ता के व्यवहार्य में सरसता होती है, जिससे प्रियतम सहज ही उसके वाञ्छित कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। काव्य की शैली भी ऐसी ही होती है। इसलिए इस शैली का नाम कान्तासम्मित है। इसमें रस की प्रधानता होती है। इसमें शब्द और अर्थ गौण हो जाते हैं तथा व्यंग्यार्थ या रस मुख्य हो जाता है।

शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणम्।

इस उपदेश शैली में रसास्वादन के साथ-साथ कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा सहज ही मिल जाती है **'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्।** इस प्रकार काव्योपदेश की शैली अन्य शैलियों से भिन्न ही नहीं, श्रेष्ठ भी है।

आचार्य मम्मट का काव्य प्रयोजन पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रयोजन विषयक मतों को समाहित किये हुए है। इनमें आचार्य मम्मट ने कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से काव्य की प्रयोजकता सिद्ध की है। यह सत्य है कि कवि काव्य की रचना अपने लिए नहीं करता है अपितु पाठकों के लिए करता है तथा उसका ध्येय रसानुभूति के साथ-साथ कर्त्तव्याकर्त्तव्य की शिक्षा देना होता है। परन्तु ऐसा कार्य जिसमें स्वयं का हित न हो, कौन करेगा। स्पष्ट है कि ऐसे कार्यों के प्रति बहुत कम लोगों की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए काव्य को कवि और पाठक दोनों के लिए समतुल्य महत्त्व का सिद्ध किया है।

प्रमुख आचार्यों द्वारा दिये गये काव्य-प्रयोजन:-

1. उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृति-क्रीडा-सुखादिकृत्।।
दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। भरत
2. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैक्षण्यं कलासु च
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्। भामह
3. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। वामन
4. तेन ब्रूम: सहृदयमन: प्रीतये तत्स्वरूपम्। आनन्दवर्धन
5. प्रीतिरेव प्रधानम्। अभिनवगुप्त
6. कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। भोजराज
7. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। कुन्तक
8. चतुर्वर्गफलप्राप्ति: सुखादल्पधियामपि। विश्वनाथ
9. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च। हेमचन्द्र।

1.6 काव्य-भेद

काव्यशास्त्र में काव्य का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है। भाषा के आधार पर काव्य के तीन भेद माने जाते हैं - 1. संस्कृत, 2. प्राकृत तथा 3. अपभ्रंश। छन्द के आधार पर काव्य के तीन भेद होते हैं - 1. गद्य, 2. पद्य और 3. मिश्र। स्वरूप - विधान की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं - 1. महाकाव्य, 2. रूपक, 3. आख्यायिका, 4. कथा तथा 5. मुक्तक। वर्ण्य-विषय के आधार पर काव्य के चार भेद होते हैं - 1. ख्यातवृत्त, 2. कल्पित, 3. मिश्रित तथा 4. शास्त्राश्रित। समास-प्रयुक्ति के आधार पर काव्य के तीन भेद हैं - 1. मुक्तक, 2. चूर्णक तथा 3. उत्कलिका।

बन्धाबन्ध के अनुसार काव्य के दो भेद हैं - 1. प्रबन्ध और 2. मुक्तक। प्रबन्ध के भी दो प्रकार हैं - 1. महाकाव्य और 2. खण्डकाव्य। इन्द्रिय-ग्राह्यता के आधार पर काव्य के दो भेद माने जाते हैं - 1.दृश्यकाव्य और 2.

श्रव्यकाव्य। सभी प्रकार के रूपकों को दृश्यकाव्य माना जाता है। श्रव्यकाव्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक तथा गद्य काव्य के विविध भेदों को सम्मिलित किया जाता है।

ध्वनि की प्रधानता के आधार पर भी काव्य-भेद का निरूपण किया गया है। आचार्य आनन्दवर्धन तथा मम्मटाचार्य के अनुसार ध्वनि की प्रधानता के आधार पर काव्य के तीन भेद हैं - 1. ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) 2. गुणीभूतव्यंग्य काव्य (मध्यम काव्य) तथा 3. अवर (अधम काव्य)। जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक उत्कृष्ट होता है, उसको **ध्वनिकाव्य** या **उत्तम काव्य** कहते हैं। जिस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक उत्कृष्ट नहीं होता है, उसको **गुणीभूत व्यंग्य** या **अधम काव्य** कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समकक्ष या कम चमत्कार वाला होता है। जिस काव्य में व्यंग्य नहीं होता है, उसको **अधम** या **अवर** काव्य कहते हैं। परन्तु आचार्य विश्वनाथ इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार ध्वनि की दृष्टि से काव्य दो प्रकार के होते हैं - 1.ध्वनि काव्य तथा 2. गुणीभूतव्यंग्य काव्य। इनके अनुसार अवर अथवा अधम को काव्य नहीं माना जा सकता है। इनमें ध्वनि का अभाव होता है।

2
काव्य

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥

साहित्यदर्पण 6.1

अनुवाद - दृश्य और श्रव्य के भेद से पुनः काव्य दो प्रकार का होता है। अभिनेय काव्य दृश्य होता है। दृश्य में रूप का आरोप होने के कारण इसको रूपक भी कहते हैं।

विमर्श:- आचार्य विश्वनाथ व्यंग्य की प्रतीति की दृष्टि से काव्य को दो प्रकार का मानते हैं - ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूत व्यंग्यकाव्य। वे सामाजिक की दृष्टि से पुनः काव्य के दो भेद निरूपित करते हैं - दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। इसीलिए कारिका में पुनः शब्द का प्रयोग करते हैं अर्थात् एक प्रकार से विभाजन करने के बाद अब दूसरे प्रकार से विभाजन करते हैं। यह दूसरा विभाजन सामाजिक की दृष्टि से है। सामाजिक कुछ काव्यों को देख सकता तथा कुछ को केवल पढ़ अथवा सुन सकता है। सामाजिक जिस काव्य को देख सकता है वह दृश्य काव्य है तथा जिसको केवल सुना अथवा पढ़ा जा सकता है वह श्रव्य काव्य है। यही काव्य के दृश्य और श्रव्य में विभाजन का मुख्य आधार है।

2.1 दृश्य काव्य

दृश्य काव्य अभिनेय होता है। इसमें काव्य में वर्णित कथा-वस्तु को नट में आरोपित कर प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं - **दृश्यं तत्राभिनेयं। तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।** दृश्य काव्य के लिए संस्कृत साहित्य में रूपक, रूप, अभिनय तथा नाटक पदों का प्रयोग किया जाता है। नील, पीत आदि के समान चाक्षुष ज्ञान का विषय होने के कारण दृश्य काव्य को **रूप** कहते हैं। जैसे मुख और चन्द्रमा में भेद होने पर भी मुख पर चन्द्रमा का आरोप किया जाता है। उसी प्रकार नट और काव्य में वर्णित राम-सीतादि मूल पात्रों में भेद होने पर भी नट पर राम-सीतादि का आरोप किया जाता है, इसीलिए दृश्य काव्य को **रूपक** कहते हैं।

अभिनय चार प्रकार का होता है - आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक। इन चार प्रकार के अभिनयों के द्वारा दृश्य काव्य की कथावस्तु को सामाजिकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए इसको **अभिनय** कहते हैं। नाटक वस्तुतः दृश्य काव्य का एक प्रकार है। आचार्यों ने दृश्य काव्य के 10 भेद बताये हैं। इन 10 भेदों में नाटक प्रथम है तथा प्रधान भी है। दृश्य काव्य की समस्त विशेषताएँ इसमें पायी जाती है। इसीलिए दृश्य काव्य को नाटक भी कहते हैं। इतना ही नहीं दृश्य काव्य के लिए प्रयुक्त समस्त पर्यायों में नाटक पद सर्वाधिक प्रचलित है।

दृश्य काव्य अथवा रूपक के भेद

आचार्यों ने रूपक के 10 भेद स्वीकार किये हैं -

1. नाटक 2. प्रकरण 3. भाण 4. व्यायोग 5. समवकार,
6. डिम 7. ईहामृग 8. अङ्क 9. वीथी 10. प्रहसन।

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

साहित्यदर्पण 6.3

नाटक

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसंधिसमन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥
एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसा सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपुरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्॥

साहित्यदर्पण 6.7-11

अनुवाद - नाटक की कथा प्रसिद्ध होती है। यह पञ्च संधियों से युक्त होता है। इसमें विलास, समृद्धि, आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होता है। इसमें सुख और दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाती है तथा यह अनेक रसों से परिपूर्ण होता है। प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि या दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है। शृंगार या वीर रस अंगी होता है तथा अन्य सभी रस उसके अंग होते हैं। इसमें निर्वहण सन्धि को अद्भुत बनाया जाता है। इसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के सम्पादन में व्यापृत रहते हैं। गाय की पूँछ के अग्रभाग के समान इसका अग्रभाग होता है।

विमर्श:- आचार्य विश्वनाथ प्रदत्त नाटक की इस परिभाषा के आधार पर इसके निम्नलिखित वैशिष्ट्य हैं -

1. **कथानक** - कथानक से तात्पर्य है - कथा। कथानक ही वह मूल तत्त्व है, जिसको लेखक अपनी प्रतिभा बल से अनेक युक्तियों से सुसज्जित कर नाटक का निर्माण करता है। कथानक के अभाव में नाटक की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। कथानक के मूलतः तीन स्रोत हैं - 1. ऐतिहासिक घटना या समस्या 2. वर्तमान की कोई घटना या समस्या तथा 3. कवि-कल्पित कोई घटना या समस्या। नाटक के संदर्भ में आचार्य विश्वनाथ का मत है कि कथानक ऐतिहासिक होना चाहिए। इसीलिए वे लिखते हैं कि -**नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्**। यहाँ ख्यात से तात्पर्य है - ऐसी कथा जो इतिहास में प्रसिद्ध हो। सामान्यतया संस्कृत काव्यशास्त्र में रामायण, महाभारत और पुराणों में वर्णित कथा को इतिहास प्रसिद्ध माना गया है। इनको उपजीव्य काव्य भी कहते हैं। क्योंकि अधिकतर नाटककारों ने अपने नाटक के लिए कथा का चयन इनमें से ही किया है। इसलिए यह सिद्धान्त ही बन गया कि नाटक की कथा प्रसिद्ध होनी चाहिए। रामायण तथा महाभारत से गृहीत होनी चाहिए। नाटककार इन स्रोतों से किसी कथा का ग्रहण कर अपनी प्रतिभाजन्य कल्पना सामर्थ्य से कथा में संशोधन और परिवर्तन की प्रक्रिया से विस्तार कर रसमय नाटक का निर्माण करता है। नाटक की एक मुख्य कथा होती है जो प्रारम्भ से अन्त तक किसी न किसी रूप में माला में सूत्र के समान व्याप्त रहती है। इस मुख्य कथा को

आधिकारिक कथा कहते हैं। परन्तु केवल मुख्य कथा से नाटक का काम नहीं चल सकता है। इसलिए आधिकारिक कथा के साथ-साथ अन्य कथा का सन्निवेश नाटक में करना पड़ता है। आधिकारिक कथा से भिन्न कथा को **प्रासंगिक कथा** कहते हैं। प्रासंगिक कथा मुख्य कथा के साथ प्रसंग वश जुड़ती है तथा प्रसंग की पूर्ति होते ही समाप्त हो जाती है। प्रासंगिक कथा का लक्ष्य मुख्य कथा का विस्तार करना तथा नायक को नाटक को फल प्राप्ति में सहयोग करना होता है। प्रासंगिक कथा दो प्रकार की होती है - पताका और प्रकरी। बड़ी तथा कुछ दूर तक चलने वाली कथा **पताका** कहलाती है तथा लघु एवं अत्यल्प दूर तक चलने वाली कथा **प्रकरी** कहलाती है।

इस प्रकार प्रासंगिक कथा के समावेश और सहयोग से आधिकारिक कथा का विस्तार होता है, उसमें चमत्कार का आधान होता है तथा नाटककार नाटक के नायक को सफलतापूर्वक फल प्राप्ति कराने में समर्थ हो पाता है। प्रासंगिक कथा काल्पनिक या ऐतिहासिक हो सकती है। दोनों ही स्थितियों में नाटककार अपनी प्रतिभा से उसको मौलिक बना देता है। आधिकारिक कथा ऐतिहासिक हो या तात्कालिक या कवि-कल्पित हो, प्रत्येक अवस्था में उसमें प्रासंगिक कथा का चमत्कारपूर्ण समावेश करना ही पड़ता है।

2. **सन्धि** - आचार्य विश्वनाथ ने कहा है - **पञ्च सन्धिसमन्वितम्।** अर्थात् नाटक पाँच सन्धियों से युक्त होता है। सन्धि पद का शाब्दिक अर्थ है - जोड़। नाटक के संदर्भ में इसका अर्थ है - कथाओं को जोड़ना। नाटक में आधिकारिक कथा के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। यदि प्रासंगिक कथाओं का समन्वय आधिकारिक कथा के साथ न हो तो नाटक बेमेल कथाओं का एक संग्रह मात्र रह जाता है। इसीलिए आवश्क होता है कि नाटकीय कथाओं को एक-दूसरे से जोड़ा जाए। यह काम सन्धि के माध्यम से किया जाता है।

सन्धि का लक्षण है - **अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।** अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथाओं को जब किसी दूसरे प्रयोजन वाली कथा से सम्बद्ध किया जाता है तो वह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि एक प्रयोजन वाले कथाओं को दूसरे प्रयोजन वाली कथाओं के साथ जोड़ना सन्धि है। आचार्यों ने सन्धि के पाँच प्रकार बताए हैं - 1. मुख 2. प्रतिमुख 3. गर्भ 4. अवमर्श तथा 5. निर्वहण

(उपसंहार)। इनकी संख्या पाँच होने के कारण इन्हें **पञ्चसन्धि** या **सन्धिपञ्चक** कहते हैं।

आचार्यों ने नाटक में सन्धि की अवस्थिति को निम्न प्रकार से व्यवस्थित किया है –

1. मुख सन्धि – आरम्भ + बीज
2. प्रतिमुख सन्धि – यत्न + बिन्दु
3. गर्भ सन्धि – प्राप्त्याशा + पताका
4. अवमर्श – नियताप्ति + प्रकरी
5. निर्वहण – फलागम + कार्य

आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम वस्तुतः नायक की दृष्टि से नाटकीय कथा का विभाजन है। इन्हें नाट्यशास्त्रीय शब्दावली में **कार्यावस्था** या **अवस्था-पञ्चक** कहते हैं। नाटक के प्रथम अंक से अंतिम अंक तक नायक क्रमशः इन अवस्थाओं से गुजरता है। कथा का वह अंश जिसमें नायक फल प्राप्ति के लिए उत्सुक होता है, उसके मन में फल प्राप्ति की इच्छा जागृत होती है, वह **आरम्भ** कहलाता है। फल प्राप्ति की इच्छा जागृत होने पर उसके लिए प्रयत्न करना **यत्न** है। फल प्राप्ति के लिए विविध यत्न करने के बाद उसकी प्राप्ति की आशा जागृत हो जाती है परन्तु यहाँ अनेक विघ्न भी होते हैं जिनसे फल प्राप्ति में संशय उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था को **प्राप्त्याशा** कहते हैं। फल प्राप्ति में आये हुए विभिन्न विघ्नों के प्रयत्न-पूर्वक विनष्ट कर देने पर फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है। इस अवस्था को **नियताप्ति** कहते हैं। इसके बाद नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है। इसको **फलागम** कहते हैं। नाटक की सम्पूर्ण कथा नायक को फल प्राप्ति की दृष्टि से इन्हीं पाँच अवस्थाओं में बँटी होती है।

इसी प्रकार बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य को **अर्थप्रकृति** कहते हैं। अर्थप्रकृति वस्तुतः कथावस्तु का भौतिक विभाजन है। इन्हें प्रयोजन की सिद्धि का कारण कहा जाता है। नाटक में मुख्य कथा का प्रारम्भ जहाँ पर होता है उसको **बीज** कहते हैं। जिस प्रकार बीज के विकसित होने पर वृक्ष का निर्माण होता है, उसी प्रकार बीज नामक कथावस्तु अनेक रूप में विस्तृत होती है। मुख्य कथा से सम्बद्ध अनेक अवान्तर कथाएँ निकलती हैं। इसे ही **बिन्दु**

कहते हैं। बड़ी तथा दूर तक चलने वाली कथा **पताका** है अथा अत्यल्प दूर तक चलने वाली कथा **प्रकरी** है। **कार्य** वह अवस्था या कथा-भाग है जिसमें नायक की समस्त कथा या सामग्री एक जगह एकत्रित हो जाती है। वस्तुतः यह नाटक का अंतिम भाग या अंक होता है।

इस प्रकार आरम्भ और बीज का संयोग **मुख सन्धि** है। यत्न और बिन्दु का योग **प्रतिमुख सन्धि** है। जहाँ पर प्राप्त्याशा तथा पताका का संयोग होता है, उसको **गर्भ सन्धि** कहते हैं। नाटक के जिस भाग में नियताप्ति और प्रकरी का योग होता है उसको **विमर्श (अवमर्श)** सन्धि कहते हैं। नाटक का अन्तिम भाग जिसमें फलागम नामक कार्यावस्था तथा कार्य नामक अर्थप्रकृति का मेल होता है, वह **निर्वहण सन्धि** कहलाता है। नाटक में पञ्चसन्धि का होना आवश्यक है।

3. **नाटक का वर्ण्य-विषय** – नाटक के वर्ण्य-विषय के संदर्भ में आचार्य विश्वनाथ का मत है कि इसमें अनेक प्रकार के विलास, समृद्धि तथा ऐश्वर्य का वर्णन होना चाहिए। नायक और नायिका के सुख तथा दुःख दोनों ही अवस्थाओं का वर्णन करना चाहिए। केवल सुख अथवा केवल दुःख के वर्णन से नाटक एकांगी हो जाता है तथा दर्शकों को उबाऊ लगने लगता है।

4. **अंकों की संख्या** – नाटक में अंकों की संख्या पाँच से दस होती है।

5. **नायक** – नाटक के कथा का फल प्राप्तकर्ता नायक होता है। नाटक की कथा का प्रारम्भ नायक से होता है। सम्पूर्ण कथा किसी न किसी रूप में नायक से जुड़ी होती है और नाटकीय कथा का समापन नायक की फल प्राप्ति से होता है। काव्यशास्त्र में नेता की अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार नायक दान देने वाला, कृतज्ञ, विद्वान्, कुलीन, लक्ष्मीवान् लोगों के अनुराग का पात्र, रूप-यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर और सुशील होता है –

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥

साहित्यदर्पण 3/3

नायक चार प्रकार का होता है – धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीरललित और धीर प्रशान्त।

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः॥

साहित्यदर्पण 6/31

धीरोदात्त - अपनी प्रशंसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अति गम्भीर स्वभाव वाला, हर्ष-शोकादि से अपने स्वभाव को न बदलने वाला, स्थिर प्रकृति, विनय से प्रच्छन्न गर्व रखने वाला तथा दृढ़व्रत अर्थात् कही हुई बात को पूरा करने वाला नायक धीरोदात्त कहलाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त धीरोदात्त है।

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

साहित्यदर्पण 3/32

धीरोद्धत्त - मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी; शूर एवं अपनी प्रशंसा स्वयं करने वाला धीरोद्धत्त नायक होता है। यथा वेणीसंहार का नायक भीमसेन।

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धत्तः कथितः॥

साहित्यदर्पण 3/33

धीरललित - निश्चिन्त, अत्यन्त कोमल स्वभाव वाला, सदा नृत्य गीतादि कलाओं में तत्पर रहने वाला नायक **धीरललित** कहलाता है। जैसे - रत्नावली नाटिका का नायक वत्सराज।

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

धीरप्रशान्त - नायक के सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण तथा वणिक् जाति का नायक **धीरप्रशान्त** कहलाता है। जैसे मालतीमाधव नाटक का नायक माधव।

नाटक के नायक के विषय में आचार्य विश्वनाथ का मत है कि वह धीरोदात्त होना चाहिए। वह प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, पराक्रमी, गुणवान, कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष होना चाहिए। संस्कृत साहित्य में उपलब्ध अधिकांश नाटकों का नायक धीरोदात्त है परन्तु कुछ नाटक ऐसे भी हैं जिनका नायक धीरललित या धीर प्रशान्त कोटि के हैं। जैसे - स्वप्नवासवदत्तम् नाटक का नाटक उदयन धीरललित है। वेणीसंहार का नायक भीमसेन धीरोद्धत्त है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि नाटक का नायक केवल धीरोदात्त होना

चाहिए। नाटक का नायक धीरोदात्त अथवा धीरललित अथवा धीरोद्धत्त कोटि का होना चाहिए। धीरप्रशान्त कोटि का नायक केवल प्रकरण में होता है।

नाटक में नायक के साथ-साथ नायिका का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत साहित्य में एकमात्र नाटक मुद्राराक्षस है जिसमें नायिका नहीं है। अन्यथा, सभी नाटकों में नायिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नायिका तीन प्रकार की होती है - 1. स्वकीया 2. परकीया तथा 3. साधारण स्त्री (गणिका)। नायिका भी नायक के सामान्य गुणों से युक्त होती है।

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणस्त्रीति।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता।

साहित्यदर्पण - 3/56

स्वकीया नायिका विनय, सरलता आदि गुणों से युक्त गृह कार्य में दक्ष पतिव्रता नारी होती है। परकीया नायिका दो प्रकार की होती है - विवाहिता तथा कन्या। गणिका वेश्या कोटि की नायिका होती है। यह निर्गुण पुरुषों से द्वेष नहीं करती है और न ही गुणियों में अनुरक्त रहती है। केवल धन देखकर बाहरी अनुराग दिखाती है।

इस प्रकार इन त्रिविध नायिकाओं में से स्वकीया ही नाटकों की नायिका होती है।

अन्य पात्र - नाटक में नायक और नायिका के सहयोग के लिए अन्य पात्र भी होते हैं। उनमें विदूषक, कञ्चुकी, प्रतिहारी, दूती, मंत्री, विट, चेट, चेटी, नटी आदि होते हैं। इस प्रकार नायक, नायिका तथा अन्य पात्रों के सरस संवाद की योजना ही नाटक को अन्य विधाओं से अलग करती है।

6. रस - नाटक में रसानुभूति ही सामाजिक के आकर्षण का केन्द्र होता है। नाट्याचार्यों ने दृश्य काव्य के लिए आठ रसों को स्वीकार किया है।शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण। शान्त रस को श्रव्य काव्य में स्वीकृति है, दृश्य में नहीं। नाटक में शृंगार अथवा वीर रस में से एक अंगी अर्थात् प्रधान रस होना चाहिए। अन्य रस अंगी के अंग रूप में उपनिबद्ध होने चाहिए।

एक एक भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥

साहित्यदर्पण - 6.10

संस्कृत साहित्य के अधिकांश नाटकों में अंगी-अंग रस विषयक इस सिद्धान्त का अनुपालन किया गया है। परन्तु महाकवि भवभूतिकृत 'उत्तररामचरितम्' में इस सिद्धान्त के विपरीत करुण रस को अंगी बनाया गया है।

7. **नाट्य रचना** - नाट्य-रचना के विषय में आचार्य विश्वनाथ का मत है कि यह गाय के पूँछ के अग्रभाग के समान होता है -

गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्।

अन्य आचार्य भी नाट्य-रचना को गोपुच्छाग्रसमाग्र मानते हैं। परन्तु इसकी व्याख्या में मतभेद है। एक मत के अनुसार नाटक में क्रम से उत्तरोत्तर अंकों को छोटा बनाना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार जैसे गाय की पूंछ में कुछ बाल छोटे हैं तो कुछ बाल बड़े होते हैं। इसी प्रकार नाटक में कुछ कार्य मुख सन्धि में ही समाप्त हो जाने चाहिए, कुछ कार्य प्रतिमुख सन्धि में पूर्ण होने चाहिए। इसी प्रकार अन्य सन्धियों में भी कुछ-कुछ कार्य होने चाहिए -अन्ये त्वाहुः -

यथा गोपुच्छे केचिद् बाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित् कार्याणि मुखसन्धौ समाप्तानि कानिचित्प्रतिमुखे। एवमन्येष्वपि कानिचित्कानिचित् इति। साहित्यदर्पण पृ. 171

एक अन्य मत के अनुसार जैसे गाय के पुच्छ के बाल ऊपर से नीचे की ओर समन्वित होते जाते हैं तथा अन्त में सारे बाल एकत्रित होकर एक रूप हो जाते हैं उसी प्रकार नाटक के अंक अथवा कथा एक दूसरे से समन्वित होते जाते हैं तथा अन्त में सभी का नाट्य फल के रूप में उपसंहृति होती है।

नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार नाटक का प्रारम्भ पूर्वरंग से करना चाहिए। पूर्वरंग से तात्पर्य है - नाटक प्रारम्भ करने से पहले उसमें आने वाले विघ्नों को दूर करने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। जब नाट्यशाला में नाटक को प्रस्तुत करना होता है तब पूर्ण विधि के साथ मञ्च (रंग) की पूजा की जाती है। परन्तु नाट्यलेखन के प्रारम्भ में नाटककार सर्वविध शान्ति के लिए अपने इष्ट देव से प्रार्थना करता है। इसको नान्दी कहते हैं। जहाँ रंगमञ्च की विधिपूर्वक पूजन सम्भव हो वहाँ नान्दी के माध्यम से शान्ति की प्रार्थना की जाती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ईश्वर, ब्राह्मण तथा राजादि की आशीर्वाद युक्त स्तुति को नान्दी कहते हैं -

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।

साहित्यदर्पण 6/24

नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रसंग आता है। वह स्वयं अथवा नटी के साथ वार्तालाप के माध्यम से नाटक की कथावस्तु का अत्यंत संक्षिप्त निर्देश, नाटक का नाम तथा नाटककार की सूचना देता है।

सूत्रधार के वार्तालाप से ही मुख्य कथा का प्रारम्भ होता है तथा नाटक का मुख्य पात्र प्रकट होता है। संस्कृत नाटकों का समापन भरतवाक्य से होता है। नाटक के अंत में नाटककार पात्रों के माध्यम से अपनी शुभकमाना प्रस्तुत करता है।

नाटक की कुछ अन्य विशेषताएँ

अभिनय - अभिनय नाटक की प्रमुख विशेषता है। यदि अभिनय को नाटक अथवा दृश्य काव्य से निकाल दिया जाए तो वह श्रव्यकाव्य की श्रेणी में आ जाएगा। 'अभि' उपसर्गपूर्वक णीञ् प्रापणे (नी) धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाकर अभिनय शब्द बनता है, जिसका अर्थ है - नाट्य-प्रयोग को प्रेक्षकों के समक्ष प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करना। अर्थात् नट नाटक की कथावस्तु को जिसके माध्यम से सामाजिकों को प्रत्यक्ष कराता है, वह अभिनय है। भरतमुनि के अनुसार जिस प्रयोग के द्वारा नाट्य के विविध अर्थों का सामाजिकों को विभावन या रसस्वादन कराया जाए, उसको अभिनय कहते हैं।

विभावयति यस्माच्च नानार्थानिह प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥

नाट्यशास्त्र 8/8

अभिनय के चार प्रकार होते हैं - आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक। शरीर के विभिन्न अङ्गों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को **आङ्गिक** कहते हैं। इसमें हाथ, पैर, आँख आदि अङ्गों की चेष्टाएँ समाहित हैं। वाणी के द्वारा काव्य एवं संवादादि का अभिनय **वाचिक** कहलाता है। वेश-भूषा आदि के द्वारा सम्पादित किया जाने वाला अभिनय **आहार्य** होता है। सुख-दुःख आदि मनोभावों का अभिनय **सात्त्विक** होता है।

प्रवृत्ति - नाटक में विभिन्न देश अर्थात् स्थान के रीति-रिवाज, परम्परा,

मान्यताएँ, वेश-भूषा आदि का समावेश होता है। नाट्याचार्यों का मानना है कि नाटक में स्थान के अनुरूप इन सबका प्रयोग होना चाहिए। नाट्यशास्त्रीय शब्दावली में इसको ही **प्रवृत्ति** कहते हैं। नाटककार पहले इन प्रवृत्तियों को लोक जीवन से समझें तदनन्तर नाटक में प्रयोग करे। संस्कृत नाटकों में इस विषय में सिद्धान्त है कि उत्तम तथा मध्यम कोटि के पात्र, शिष्ट पुरुष, तपस्वी एवं संन्यासियों की भाषा संस्कृत होनी चाहिए। स्त्री पात्रों की भाषा प्रायः प्राकृत होती है। आवश्यकतानुसार स्त्रियाँ संस्कृत भाषा में भी वार्तालाप कर सकती हैं। अधम पात्रों की भाषा शौरसेनी होती है।

वृत्ति - नाट्य-प्रयोग में वृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतमुनि के अनुसार कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार वृत्ति है। वे वृत्तियों को नाट्य की माता कहते हैं - **वृत्तयः नाट्यमातरः**। वस्तुतः वृत्तियाँ रसोत्पत्ति का मुख्य स्रोत है। नायक-नायिका के हाव-भाव तथा विलासपूर्ण व्यापार से ही नाटक में रसोत्पत्ति होती है। यही तो वृत्ति है।

वृत्तियाँ चार होती हैं - भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। शब्दाश्रित तथा पाठ्यप्रधान वृत्ति **भारती** है। मुख्य रूप से यह संस्कृत भाषा पर आश्रित होती है परन्तु प्राकृत भाषा में भी यह वृत्ति सम्भव है। यह मुख्य रूप से करुण और अद्‌भुत रस की निष्पत्ति में सहायक होती है। सामान्य रूप से सभी रसों में इसकी अवस्थिति होती है। भारती वृत्ति के चार अङ्ग हैं- प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन। इनमें वीथी के उद्‌घात्यक आदि 13 उपाङ्ग होते हैं।

सात्त्वती वृत्ति - सत्त्वप्रधान मनोव्यापार रूप होने से इसको सात्त्वती वृत्ति कहते हैं। इसमें शौर्य, त्याग, दया, दान, आर्जव आदि का अभिनय होता है। इस वृत्ति में रौद्र, वीर तथा अद्‌भुत रसों की प्रधानता होती है। इसमें करुण एवं शृंगार के प्रसंग नहीं के बराबर होते हैं। इसमें उद्धत पात्रों की बहुलता होती है जिनमें आपसी संघर्ष एवं घात-प्रतिघात का दृश्य दिखाया जाता है। उत्थापक, सांघात्य, संलाप और परिवर्तक ये चार सात्त्वती वृत्ति के भेद हैं।

कैशिकी - कैशिकी वृत्ति का सम्बन्ध केश से है। नाट्यशास्त्र के अनुसार जो वृत्ति सुन्दर वस्त्र एवं आभूषणों की सजावट से विचित्र हो, जिसमें स्त्री-पात्रों की बहुलता हो, जो विविध प्रकार के नाच-गान से सुसज्जित हो, जिसमें भोग-विलास एवं वासना के उद्दीपक तत्त्व समाहित हो, वह **कैशिकी** वृत्ति है। एक अन्य विवरण के अनुसार अत्यन्त लम्बे-लम्बे केशों से युक्त होने के

कारण स्त्रियों को केशिका कहा जाता है तथा इसलिए स्त्रियों की प्रधानता के कारण इस वृत्ति को कैशिकी कहते हैं। मुख्य रूप से नाटक में सौन्दर्य का सृजन इस वृत्ति का कार्य है। इसके भी चार अङ्ग हैं- नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ।

आरभटी - आरभट का अर्थ होता है - योद्धा-पुरुष। आरभटों (योद्धा पुरुषों) का वर्णन जिस वृत्ति में किया जाता है, वह आरभटी वृत्ति होती है। भरतमुनि के अनुसार आरभटों के गुणों से युक्त वृत्ति आरभटी है। इसमें माया, युद्ध, कपट, दम्भ, अनृत, वञ्चना, छल, वध, क्रोध आदि का अभिनय होता है। यह वृत्ति रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों की निष्पत्ति में सहायक होती है। आरभटी वृत्ति के भी चार अङ्ग हैं- वस्तूत्थापन, सम्फेट, संक्षिप्ति और अवपातन।

प्रकृति - प्रकृति न केवल मनुष्य जीवन का, अपितु साहित्य का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादान है। भले ही मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति का दोहन करे परन्तु उसके बिना एक क्षण भी व्यतीत करना असम्भव है। ठीक इसी प्रकार कथा कितनी सुन्दर क्यों न हो प्रकृति ही उसमें जान डालने का काम करती है। इसीलिए चाहे दृश्य काव्य हो या श्रव्य, सर्वत्र प्रकृति का विशेष योगदान है। कवि अपनी रचनाओं में समुद्र, नदी, पर्वत, वन, पशु-पक्षी आदि प्राकृतिक उपादानों का प्रसंगानुकूल समावेश कर कथा को मनोरम बना देता है।

लोकमंगल की भावना - यद्यपि नाटकों का मूल प्रयोजन मनोरंजन होता है परन्तु संस्कृत नाटकों में मनोरंजन के साथ-साथ लोकमंगल की भावना समाहित होती है। ये नाटक प्रत्यक्ष रूप से लोक-मनोरंजन के साधन होते हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिकों को लोक-मंगल का उपदेश देते हैं। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ काव्य का प्रयोजन बताते हैं - **चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि**। इसकी व्याख्या में लिखते हैं - **काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्यादिकृत्याकृत्यप्रवृतिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव।** अर्थात् नाटक रावणादि के समान परस्त्री हरण आदि अधार्मिक कृत्यों में प्रवृत न होने तथा अच्छे कर्मों में प्रवृत्त होने का उपदेश देता है।

संस्कृत नाटकों में जन-कल्याण का भाव भरा हुआ है। इनमें असत्य पर सत्य तथा बुराई पर अच्छाई की जीत दिखाई गई है। नायक सदा सत्य के मार्ग का अनुसरण करता है। इस मार्ग में उसके समक्ष अनेक बाधाएँ आती हैं। परन्तु

वह अपने मार्ग से विचलित नहीं होता है। वह सदा सत्य का पालन करते हुए बाधाओं से संघर्ष करता है तथा अन्त में जीत प्राप्त करता है। कभी-कभी नायक अथवा नायिका जब अपने मार्ग से भटकता है तब नाटककार उनको शापादि के माध्यम से दण्डित करता है।

संस्कृत नाटक आदर्शवादी हैं। इनमें आदर्शस्थापक मूल्यों का पोषण किया गया है। ये पूर्णतः लोक मंगल के लिए समर्पित हैं।

सुखान्त - संस्कृत नाटकों की एक प्रमुख विशेषता है - सुखान्तता। सामान्यतया नाटकों की समाप्ति सुखान्त होती है या दुःखान्त। संस्कृत नाटकों की समाप्ति सुखान्त ही होती है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति आशावादी है। इसमें निराशा का कोई स्थान नहीं है। इसीलिए संस्कृत नाटक भी आशावादी है तथा इनका समापन सुखमय होता है। इसका एक कारण यह भी है कि नाटककार अपने नाटक के माध्यम से समाजिकों को कर्मशील होने की शिक्षा देता है। अच्छे कार्य में अनेक बाधाएँ आती हैं परन्तु उनका सामना करने वाला सदा विजयी होता है। इसलिए मनुष्य को अपने जीवन में बाधाओं से लड़ना चाहिए, हारना नहीं। इन्हीं सब कारणों से संस्कृत का नाटककार दुःखान्त इतिवृत्त को सुखान्त में परिवर्तित कर प्रस्तुत करता है।

रूपक के अन्य प्रकार

प्रकरण - रचना विधान की दृष्टि से प्रकरण नाटक के समान होता है। इसका कथानक कवि-कल्पित होता है। इसका नायक ब्राह्मण, वणिक् या आमात्य होता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है। नायिका दो प्रकार की होती है - कुलजा और गणिका। कहीं पर कुलजा नायिका होती है, कहीं पर गणिका नायिका होती है और कहीं पर कुलजा और गणिका दोनों नायिका होती हैं। अन्य समस्त योजना नाटक के समान होती है।

भाण - भाण का इतिवृत्त कल्पित होता है। इसका नायक विट या धूर्त होता है। इसमें नायक उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा आकाशभाषित करते हुए अपने अथवा किसी दूसरे (गणिका आदि) के चरित्र का प्रकाशन करता है। इसमें एक अंक होता है। इसमें शृंगार अथवा वीररस की प्रधानता होती है। मुख एवं निर्वहण दो ही संधियाँ होती हैं। भारती वृत्ति का बाहुल्य होता है।

व्यायोग - व्यायोग का इतिवृत्त युद्धविषयक तथा प्रख्यात होता है। इसका

नायक राजर्षि या देवता होता है। नायक मनुष्य भी हो सकता है। इसमें एक दिन की कथा होती है। इसमें स्त्री पात्रों की संख्या बहुत कम तथा पुरुष पात्रों की संख्या अधिक होती है। इसमें एक अङ्क होता है। इसमें कलह एवं युद्ध का वर्णन होता है तथा शृंगार और हास्य रस को छोड़कर सभी रस होते हैं।

समवकार - समवकार तीन अङ्कोंवाला रूपक होता है। देवता अथवा असुर इसके नायक होते हैं। इसका इतिवृत इतिहास प्रसिद्ध होता है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर सभी सन्धियाँ होती हैं। प्रथम अङ्क में मुख और प्रतिमुख सन्धि, द्वितीय अङ्क में गर्भ-सन्धि तथा तृतीय अङ्क में निर्वहण सन्धि होती है। इसमें वीर अथवा रौद्र प्रधान रस होता है।

डिम - डिम का इतिवृत्त प्रख्यात होता है। इसमें देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक होते हैं। सभी नायक उद्धत होते हैं। इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, युद्ध आदि का वर्णन होता है। इसमें चार अङ्क होते हैं। विमर्श सन्धि को छोड़कर सभी सन्धियों का नियोजन होता है। इसमें शृंगार और हास्य रस को छोड़कर सभी रस होते हैं। इसमें मुख्य रूप से रौद्र रस अङ्गी होता है।

अङ्क - अङ्क का अपर नाम उत्सृष्टांक है। इसमें एक अङ्क होता है। इसका नायक सामान्य पुरुष होता है। इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु युद्ध पर आधारित होता है। इसमें मुख्य तथा निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं। इसका अङ्गीरस करुण होता है। इसमें संघर्ष तथा युद्ध का वर्णन और स्त्रियों के विलाप का चित्रण होता है।

प्रहसन - नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें हास्य व्यंग्य की प्रधानता होती है। इसमें विट, चेट, आदि के पाखण्ड पूर्ण चरित्र का उपहासात्मक चित्रण होता है। इसका उद्देश्य समाज में व्याप्त पाखण्ड का पर्दाफाश करना होता है। इसका कथानक कवि-कल्पित होता है। इसमें एक अंक होता है तथा दो सन्धियाँ होती हैं। इसका अंगी रस हास्य होता है।

ईहामृग - आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जहाँ नायक मृग के समान अलभ्य नायिका को पाने की कामना करता है, उसे ईहामृग कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि इसमें अलभ्य नारी की प्राप्ति के लिए संघर्ष होता है। इसकी कथावस्तु मिश्रित होती है। इसका नायक दिव्य अथवा प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न मनुष्य होता है। वह किसी सुन्दर नारी की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। इसमें

एक अंक होता है। कुछ आचार्यों ने इसमें चार अंक होने की बात की है। इसमें वीर या रौद्र प्रधान रस होता है।

वीथी – वीथी का शाब्दिक अर्थ है – गली या मार्ग। इसी आधार पर कुछ लोग वर्तमान में होने वाले नुक्कड़ नाटक को वीथी कहते हैं। परन्तु काव्यशास्त्र में जिस वीथी की बात की गई है, वह नुक्कड़ नाटक नहीं है। वस्तुतः वक्रोक्तिपूर्ण कथनों से चमत्कृत होने के कारण इसको वीथी कहते हैं। वक्रोक्ति का अर्थ है – टेढ़ा कथन। वीथी में वक्रोक्ति युक्त कथन अधिक होते हैं। पाश्चात्य विद्वान कीथ ने 'वीथी' का अर्थ माला किया है। उनके अनुसार इसमें कई रस माला के समान गुथे रहते हैं। इसीलिए इसको वीथी कहते हैं।

वीथी में एक अंक होता है। इसमें कथावस्तु कवि-कल्पित होती है। मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। इसमें एक या दो पात्र होते हैं। इसमें उक्ति प्रत्युक्ति शैली में कथोपकथन होता है। आकाशभाषित का अधिक प्रयोग होता है। आचार्य विश्वनाथ इसमें शृंगार रस को अङ्गी मानते हैं।

नाटिका – नाट्यशास्त्र में नाटी नाम से एक रूपक भेद का उल्लेख है। परवर्ती आचार्यों ने इसी नाटी को नाटिका नाम से अभिहित किया है। नाटिका में नाटक और प्रकरण का मिश्रण होता है। इसीलिए कुछ आचार्य इसको रूपक का भेद नहीं मानते हैं। आचार्य धनंजय स्पष्ट लिखते हैं –

रूपकं दशधैव। रसाश्रयम् नाटिकायाः संकीर्णत्वेन। अर्थात् नाटिका के संकीर्ण (नाटक और प्रकरण के मिश्रण) होने से रूपक दस प्रकार के ही होते हैं। नाटिका को रूपक का अलग भेद नहीं माना जा सकता है।

नाटिका का इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कवि-कल्पित हो सकता है। कुछ आचार्यों के अनुसार इसका इतिवृत्त प्रकरण के समान तथा नायक नाटक के समान प्रख्यात होता है। इसमें चार अंक होते हैं। इसका अङ्गी रस शृंगार होता है। इसमें मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसमें स्त्री पात्रों की अधिकता होती है।

उपरूपक

संस्कृत साहित्य में रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों की परम्परा भी देखने को मिलती है। आचार्य अभिनव गुप्त ने रूपक और उपरूपकों में भेद प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार रूपक अभिनय प्रधान होते हैं तथा उपरूपक नृत्य-गीत

प्रधान होते हैं। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए भोजराज ने बारह उपरूपकों का वर्णन किया है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र भी बारह उपरूपकों का विवेचन करते हैं। भावप्रकाशकार रूपकों की संख्या बीस तथा कविराज विश्वनाथ 18 मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ सम्मत उपरूपक हैं – नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खक, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और भाणिका। यहाँ नाटिका को उपरूपक की संज्ञा दी गई है। इनमें से श्रीगदित, भाणिका, प्रस्थानक, रासक, काव्य को कुछ आचार्य नृत्य मानते हैं।

2.2 श्रव्य काव्य

श्रव्यकाव्य के अंतर्गत, महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका तथा चम्पूकाव्य आते हैं। इन सबका अभिनय नहीं किया जा सकता है। इसलिए इनको श्रव्यकाव्य कहा जाता है। दृश्य काव्य के समान ही श्रव्यकाव्य का मूल प्रयोजन पाठकों को रसानन्द की अनुभूति कराना है।

2.2.1 महाकाव्य

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
शृगांरवीरशान्तानामेकोऽगी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वेनाटकसंधयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सत्तां च गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः॥
प्राकृतैर्निमित्ते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद् गलितकैरपि॥
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि॥
भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्॥

साहित्यदर्पण 6.315-328

अनुवादः- महाकाव्य सर्गबन्ध होता है। उसमें देवता या सद्वंश क्षत्रिय नायक होता है और वह धीरोदात्तादि गुणों से युक्त होता है। एक वंश में उत्पन्न कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक अंगी रस होता है। अन्य सभी रस गौण होते हैं। सभी नाट्यसंधियाँ होती हैं। ऐतिहासिक या सज्जनसम्बन्धिनी कोई कथा होती है। चारों वर्ग होते हैं। उनमें से एक उसका फल होता है। प्रारम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य विषय का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और कहीं सज्जनों का गुणकीर्तन होता है। इसमें न बहुत छोटे और न अधिक बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है किन्तु सर्ग के अन्तिम पद्य का छन्द भिन्न होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी देखे जाते हैं। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की कथा की सूचना होती है। उसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः काल, मध्याह्न, शिकार, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होता है। इसका नाम कवि के नाम से, नायक के नाम से अथवा अन्य नाम से होता है। सर्ग का नाम सर्ग में वर्णित कथा पर आश्रित होता है। आर्ष काव्यों में सर्गों का नाम आख्यान होता है। प्राकृत काव्यों में सर्गों का नाम आवास होता है। इसमें स्कन्ध या कहीं पर गलितक छन्द होता है।

अपभ्रंश भाषा में लिखे काव्य में सर्गों का नाम कुडवक होता है और इसमें अपभ्रंश के योग्य अनेक छन्द हो सकते हैं।

विमर्शः- आचार्य विश्वनाथ प्रदत्त इस लक्षण में महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई हैं -

1. **सर्गबन्ध-** महाकाव्य सर्गों में बँटा होता है। महाकाव्य की कथा अत्यन्त विस्तृत होती है। इसकी कथा नायक, नायिका, अन्य पात्र, घटना, प्रकरण आदि पर आश्रित होती है। इन सबके आधार पर महाकाव्य की विस्तृत कथा को छोटे-छोटे अंशों में बाँट दिया जाता है। महाकाव्य के ये छोटे-छोटे अंश सर्ग कहलाते हैं। सर्ग वस्तुतः कथा का विभाजन है। ध्यान देने की बात है कि महाकाव्य के सर्ग एक दूसरे से जुड़े होते हैं। सामान्यतः महाकाव्य में 8 से अधिक सर्ग देखने को मिलते हैं। सर्गों की अधिकतम संख्या की कोई सीमा नहीं है।

2. **नायक** - काव्य के प्रधान पात्र को नायक कहते हैं। नायक शब्द 'नी' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'ले जाने वाला' होता है। काव्य के संदर्भ में कथावस्तु को ले जाने वाला नायक होता है। इसका तात्पर्य है कि काव्य की सम्पूर्ण कथा जिस पात्र के चारों तरफ घूमती रहती है, वह पात्र नायक कहलाता है। उदाहरणस्वरूप रामायण को देख सकते हैं। रामायण महाकाव्य की सम्पूर्ण कथा भगवान् श्री राम के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। इसलिए श्रीराम रामायण महाकाव्य के नायक हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक की अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं। नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, दक्ष, मृदुभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्ध वंश वाला, स्थिर, युवा, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त, शूर, दृढ़, तेजस्वी एवं धार्मिक होता है। नायक में इनमें से अधिक से अधिक गुण होने चाहिए। इन गुणों की न्यूनता और अधिकता के आधार पर नायक को चार प्रकार का बताया गया है - धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। वह देवता या राजा या किसी प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न होना चाहिए।

3. **रस** - महाकाव्य में एक रस अंगी और अन्य रस अंग होने चाहिए। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस

अंगी होता है तथा अन्य सभी रस सहायक होते हैं। यदि किसी महाकाव्य में शृंगार मुख्य है तो वीर, शान्त तथा अन्य रस गौण रूप में होते हैं। काव्यशास्त्र में नौ रस बताएँ गये हैं -शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, हास्य, अद्भुत, शान्त और वीभत्स। महाकाव्य में इन सभी रसों का समावेश होता है।

4. **कथा** - आचार्यों का मानना है कि महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक होनी चाहिए। श्रेष्ठ महापुरुष या सज्जन सम्बन्धी कथा भी महाकाव्य का विषय हो सकता है। प्रत्येक महाकाव्य की एक मुख्य कथा-वस्तु होती है। परन्तु मुख्य कथा के साथ अनेक छोटी- बड़ी कथाएँ भी चलती हैं। इन कथाओं के प्रसंग में महाकवि कहीं दुष्ट पुरुषों की निन्दा करता है और कहीं सज्जनों की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार धर्म-अधर्म, सद्गुण-दुर्गुण, सद्व्यवहार-दुर्व्यवहार, सत्य-असत्य आदि का वर्णन कर महाकवि पाठकों को इनमें से श्रेष्ठ कर्मों को आचरण में लाने का उपदेश देता है।

सम्पूर्ण कथा नाट्यसंधियों में बँटी होती है। ये नाट्यसंधियाँ हैं - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति। ये सन्धियाँ नाटक की कथा के समान ही महाकाव्य की विविध क्रियाओं को जोड़ने का काम करती हैं। (द्रष्टव्य नाट्य सन्धि)

5. **फल** - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग में से कोई एक महाकाव्य का फल होता है। यह फल नायक को प्राप्त होता है। नायक इस फल की प्राप्ति के लिए महाकाव्य के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रयास करता है तथा नायक को फल प्राप्ति के साथ ही महाकाव्य की कथा सम्पूर्ण हो जाती है।

6. **मंगलाचरण** - महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण का प्रयोजन महाकाव्य की निर्विघ्न समाप्ति है। अर्थात् जब कोई महाकवि काव्य की रचना करना प्रारम्भ करता है तब वह अपने इष्ट देव से प्रार्थना करता है कि उसका यह कार्य निर्विघ्नतापूर्ण सम्पन्न हो जाये। कहीं-कहीं काव्य के मध्य और अंत में भी मंगलाचरण देखने को मिलता है। परन्तु इन सबका प्रयोजन एक ही है। जब महाकवि अपने महाकाव्य के अन्त में मंगलाचरण करता है तब वह अपने इष्टदेव के प्रति आभार प्रकट करता है। आचार्यों ने मंगलाचरण को तीन प्रकार का माना है - आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक। आशीर्वादात्मक मंगलाचरण में महाकवि पाठकों को शुभकामना देता है। नमस्कारात्मक में वह अपने इष्ट देव को प्रणाम करता है तथा वस्तुनिर्देशात्मक

में महाकाव्य के विषयवस्तु का संक्षिप्त उल्लेख करता है। महाकवि स्वेच्छा से किसी भी प्रकार के मंगलाचरण से महाकाव्य का प्रारम्भ कर सकता है।

7. **प्रकृति**-प्रकृति का चित्रण महाकाव्य की एक प्रमुख विशेषता है। प्रकृति-चित्रण के माध्यम से महाकवि न केवल अपने मुख्य कथावृत्त को विस्तृत करता है, अपितु रोचक भी बनाता है। इसमें प्रकृति के विविध उपादानों को अत्यंत मनोरम वर्णन किया जाता है। महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः काल, दोपहर, शिकार, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र अभ्युदय आदि का अत्यंत विस्तार से वर्णन किया जाता है।

8. **नामकरण** - महाकाव्य का नामकरण कवि, वर्ण्य-विषय, नायक-नायिका अथवा किसी पात्र के नाम पर होना चाहिए। अधिकांश महाकाव्यों का नाम नायक अथवा वर्ण्यविषय पर ही आधारित है। इसी प्रकार महाकाव्य के सर्गों का नाम सर्ग में वर्णित कथा के आधार पर रखने की परम्परा है। महाकवि अश्वघोष विरचित 'बुद्धचरित' महाकाव्य का नामाकरण नायक के आधार पर हुआ है। उन्हीं की दूसरी रचना 'सौन्दरानन्द' के नामकरण का आधार नायक-नायिका है। महाकवि कालिदास विरचित 'रघुवंशम्, कुमारसम्भव तथा महाकवि माघ विरचित 'शिशुपालवध' वर्ण्य-विषय अथवा घटना पर आधारित है। महाकवि भट्टि विरचित भट्टिकाव्य का नाम कवि के नाम पर है।

9. **छन्द** - महाकाव्य का प्रत्येक सर्ग एक छन्द में उपनिबद्ध होता है। अर्थात् एक ही छन्द में पूरा एक सर्ग का वर्णन होता है परन्तु सर्ग के अन्त में छन्द बदल देने का नियम है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार प्राकृत भाषा में लिखे गये काव्यों में स्कन्ध या गलितक छन्द होता है। अपभ्रंश भाषा में लिखे गये काव्य में अपभ्रंश के योग्य अनेक छन्द हो सकते हैं। परन्तु संस्कृत भाषा में लिखे गये महाकाव्य के सर्गों में एक ही वृत्त के प्रयोग का सिद्धान्त है।

10. **पात्र** - महाकाव्य में नायक-नायिका के अतिरिक्त अनेक पात्र होते हैं। आचार्य रुद्रट के अनुसार नायक की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए प्रतिनायक का होना आवश्यक है। प्रतिनायक वीरतापूर्ण कार्यों को करते हुए नायक के हाथों परास्त होता है। प्रतिनायक के कृत्यों से नायक को क्रोध आता है तथा इसी कारण दोनों में युद्ध होता है। अन्त में प्रतिनायक पर नायक की

जीत होती है। इनके अलावा मंत्री, सहायक, दूत, सेना, राजा, रानी, दासी-दास आदि अनेक पात्र महाकाव्य में होते हैं।

11. **शैली** - महाकाव्य की शैली सरल और सरस होनी चाहिए। इसमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। अग्निपुराण के अनुसार महाकाव्य में वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियाँ, माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण तथा सभी अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए।

रघुवंश, कुमारसम्भव, बुद्धचरित, सौन्दरानन्द, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधचरित आदि प्रसिद्ध महाकाव्य हैं।

2.2.2 खण्डकाव्य

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

साहित्यदर्पण 7.329

अनुवाद - काव्य के एक अंश का अनुकरण करने वाला खण्डकाव्य होता है।

विमर्श - काव्यशास्त्र में खण्डकाव्य की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती है। आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य की जो परिभाषा दी है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला होता है। इसका तात्पर्य है कि खण्डकाव्य में नायक के जीवन की किसी एक घटना अथवा पक्ष का विस्तार से वर्णन किया जाता है। आकार में यह महाकाव्य से बहुत छोटा होता है। यह महाकाव्य के एक या दो सर्ग के बराबर होता है। इसीलिए इसमें काव्य की समस्त विशेषताएँ नहीं पाई जाती हैं। इसमें नाट्य सन्धियों का अभाव होता है। इसका कथानक ऐतिहासिक, काल्पनिक या भिन्न कोई भी हो सकता है। इसमें अनेक छन्दों के विनियोग की आवश्यकता नहीं होती है। एक या दो छन्दों में ही संपूर्ण कथा का वर्णन होता है। छन्द विधान कथावस्तु की दृष्टि से की जाती है।

महाकवि कालिदास प्रणीत 'मेघदूत' को खण्डकाव्य का सुन्दर उदाहरण माना जाता है। इसमें यक्ष के जीवन की एक प्रसिद्ध घटना को अत्यन्त मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है। इसका कथानक अत्यन्त छोटा है परन्तु प्रकृति का चित्रण और यक्ष एवं यक्षिणी की विरह-वेदना के वर्णन में कथावस्तु का अच्छा विस्तार हुआ है।

2.2.3 गद्यकाव्य

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्॥

साहित्यदर्पण 6.331

अनुवाद - छन्दहीन रचना गद्य है। यह चार प्रकार का होता है - मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। पहला समासरहित होता है। दूसरे में पद्य के अंश पड़े रहते हैं। तीसरे में दीर्घ समास और चौथे में छोटे छोटे समास होते हैं।

विमर्श-छन्द से रहित रचना को गद्य कहते हैं। संस्कृत साहित्य में गद्यलेखन की अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। इसी आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने गद्य काव्य को चार प्रकार का माना है - 1. मुक्तक, 2. वृत्तगन्धि 3. उत्कलिकाप्राय तथा 4. चूर्णक।

मुक्तक समासरहित रचना होती है। लेखक अत्यन्त सरल एवं सहज शब्दों में ऐसी रचना करता है। ऐसी रचनाएँ अत्यन्त सहज रूप से बोधगम्य होती हैं। वृत्तगन्धि में छन्द से युक्त पद वाक्य के मध्य में होते है। इसका तात्पर्य है कि यद्यपि वृत्तगन्धि छन्दहीन रचना है। इसमें भी कोई छन्द नहीं होता है, परन्तु वाक्यों के मध्य छन्दयुक्त पद समूह होते हैं। जैसे -

समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरित वैरिनगर...।

इस वाक्य के मध्य में **'कुण्डलीकृतकोदण्ड'** में अनुष्टुप् छन्द है। परन्तु यह वाक्य के मध्य अन्तःपतित है। इसको छन्द की कोटि में नहीं ला सकते हैं। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि - वृत्तभागयुतं परम्। अर्थात् वृत्तगन्धि में छन्द का अंश जुड़ा रहता है। उत्कलिकाप्राय में लम्बे-लम्बे समासयुक्त वाक्य होते हैं। चूर्णक प्रकार के गद्य में छोटे-छोटे समासयुक्त वाक्य होते हैं। गद्य काव्य को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है -

(1) कथा तथा (2) आख्यायिका

2.2.4 कथा

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।

साहित्यदर्पण 7.332-333

अनुवाद - कथा में सरस कथावस्तु गद्यों द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें कहीं कहीं आर्या छन्द और कहीं वक्त्र या उपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित्र निबद्ध होता है।

विमर्श - आचार्य विश्वनाथ कथा की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं देते हैं। उनके कथन से इतना ही स्पष्ट होता है कि छन्दविहीन सरस रचना गद्य है। पद्यकाव्य के समान रसमय होना इसकी अनिवार्यता है। रस के अभाव में कोई गद्यमय रचना कथा नहीं हो सकती है। कथा के प्रारम्भ में पद्य के माध्यम से देवता, गुरू अथवा श्रेष्ठ जनों को नमस्कार किया जाता है तथा दुष्ट पुरुषों के चरित्र का संक्षिप्त वर्णन करके उनकी निंदा की जाती है। इन वर्णनों में आर्या, वक्त्र अथवा उपवक्त्र छन्दों का प्रयोग किया जाता है। महाकवि बाणभट्ट प्रणीत 'कादम्बरी' कथा का सर्वोत्तम उदाहरण है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य विश्वनाथ के अतिरिक्त आचार्य भामह, दण्डी, रुद्रट तथा अग्निपुराणकार कथा का विवेचन करते हैं, परन्तु कहीं पर भी इसका सर्वसम्मत लक्षण नहीं मिलता है। आचार्य भामह के अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की उस रचना को कथा कहते हैं, जिसमें न तो वक्त्र-अपरवक्त्र छंद हो और न ही उच्छ्वास हो। इसमें किसी अन्य व्यक्ति द्वारा नायक के चरित्र का वर्णन किया जाता है। नायक स्वयं अपनी कथा नहीं कहता है।

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्तानोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तथा।।
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।

काव्यालंकार 1.28-29

आचार्य दण्डी का मत है कि कथा में कहीं नायक स्वयं अपनी कथा कहता है और कहीं अन्य व्यक्ति उसकी कथा का वर्णन करता है। अग्निपुराण

के अनुसार कथा में ग्रन्थकार श्लोकों में अपने वंश की प्रशंसा करता है तथा मुख्य कथा की अवतारणा के लिए अवान्तर की सृष्टि करता है। जिस कथा में अध्याय का विभाजन परिच्छेद के नाम से नहीं किया जाता है, उसका नाम लम्बक होता है।

श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति।
मुख्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम्।।
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वा लंबकैः क्वचित्।
सा कथा नाम।।

अग्निपुराण 1/15-17

कथा के कथानक के विषय में कहा जा सकता है कि यह काल्पनिक तथा मनगढंत होता है। कथाकार अपनी इच्छा से कथा के कथानक का गुम्फन करता है। एक कथा के अन्दर अनेक अवान्तर कथाएँ होती हैं। अवान्तर कथाओं के बाहुल्य के कारण मुख्य कथा लुप्त सी होती है। कथाकार अवान्तर कथाओं की सहायता से ही मुख्य कथा को पुनः उपस्थित करता है।

2.2.5 आख्यायिका

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्।।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बाध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्।।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

साहित्यदर्पण 7.332-335

अनुवाद - आख्यायिका कथा के समान होती है। इसमें कवि के वंश का वर्णन होता है। अन्य कवियों के वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं होते हैं। इसके कथाभागों का नाम आश्वास होता है। आर्या, वक्त्र, उपवक्त्र छन्दों के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है।

विमर्श - आचार्य विश्वनाथ आख्यायिका का कोई भी विशेष लक्षण नहीं देते हैं। वे आख्यायिका की कुछ विशेषताओं का निरूपण करते हैं। आख्यायिका में कवि के वंश का वर्णन होता है। इसमें रचनाकार अपनी स्वेच्छा से अन्य कवियों के वृतान्त को भी स्थान देता है। इसमें अपने मन्तव्य के समर्थन में दूसरे रचनाकारों के पद्यों को उद्धरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह कई

कथाभागों में बँटी होती है। इसके प्रत्येक कथाभाग को आश्वास कहते हैं। प्रत्येक आश्वास के प्रारम्भ में पद्य अथवा गद्य के माध्यम से आगे की कथा की सूचना दी जाती है। इन प्रारम्भिक पदों में कवि अन्योक्ति का आश्रय लेता है। अन्योक्ति के माध्यम से ही भावी कथा की सूचना देता है। कवि अपनी स्वेच्छा से यहाँ आर्या, वक्त्र, उपवक्त्र छन्दों का प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार कथा और आख्यायिका में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि आख्यायिका कथा के समान होती है।

आचार्य भामह के अनुसार आख्यायिका ऐसी गद्य रचना है जिसके शब्द, अर्थ एवं समास अक्लिष्ट एवं श्रुतिसुखद होते हैं। इसमें विषय उदात्त होता है तथा यह उच्छ्वासों में बँटा होता है। इसमें नायक अपने घटित चरित्र को स्वयं कहता है। इसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों के माध्यम से भावी अर्थ (कथा) की सूचना दी जाती है। इसमें स्थान-स्थान पर रचनाकार अपने अभिप्राय विशिष्ट को प्रकट करने के लिए विशिष्टार्थ पदों का प्रयोग करता है तथा कन्याहरण, युद्ध, वियोग और अभ्युदय का वर्णन होता है।

संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च॥
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥

काव्यालंकार 1/25-27

आचार्य भामह के अनुसार आख्यायिका का वर्णन नायक स्वयं करता है परन्तु आचार्य विश्वनाथ इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि आख्यायिका का प्रवचन नायक स्वयं करे। वे अपने मत के समर्थन में आचार्य दण्डी का मत उद्धृत करते हैं। आचार्य दण्डी ने कहा है कि आख्यायिका में भी अन्य लोगों के वचन होते हैं- **'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्' इति दण्ड्याचार्यवचनात्केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या इत्याहुः तदयुक्तम्।**

आचार्य दण्डी कथा और आख्यायिका में कोई स्पष्ट भेद नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने अपनी रचना काव्यादर्श में आचार्य भामह प्रदत्त कथा और आख्यायिका के भेद का खण्डन किया है।

अग्निपुराण में आचार्य भामह और दण्डी के मतों को ही आधार बनाया गया है। अग्निपुराण के अनुसार जिस गद्यकाव्य में ग्रन्थकार के वंश का विस्तृत वर्णन हो, कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भजन्य विपत्तियाँ हों, रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्तियों को चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया हो, जिसके कथा भाग का नाम उच्छ्वास हो, जिसमें चूर्णक नामक गद्य का प्रयोग हो और कथा का वर्णन नायक के मुख से या किसी अन्य के मुख से कराया गया हो तथा जिसमें वक्त्र या अपरवक्त्र छंद का प्रयोग किया गया हो, उसको आख्यायिका कहते हैं।

कर्तृवंशप्रशंसास्याद्यत्रगद्येनविस्तरात् ।
कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भविपत्तयः ॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैक परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा।
वक्त्रं वा अपरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका स्मृता॥

अग्निपुराण 1.13-15

आचार्य रुद्रट का मत आचार्य भामह एवं अग्निपुराण के मतों के समतुल्य है। उन्होंने आख्यायिका के विषय में एक नई बात कही है। आख्यायिका में संशय प्रसंग उपस्थित होने पर संशय को दूर करने के लिए प्रसंग के अनुकूल अन्योक्ति, समासोक्ति, श्लेष से युक्त किसी एक या दो पद्यों का पाठ होना चाहिए। इसमें कथावस्तु के आधार पर आर्या, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा में से किसी एक छंद का प्रयोग करना चाहिए। प्रायः मालिनी छंद का ही व्यवहार होना चाहिए।

इस प्रकार विविध आचार्यों के मतों के आधार पर आख्यायिका की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:-

1. आख्यायिका की रचना संस्कृत भाषा एवं गद्य शैली में होती है।
2. इसमें प्रयुक्त शब्द, अर्थ और पदसंघटना आदि अक्लिष्ट, सरल, सुबोध एवं श्रुतिसुखद होते हैं।
3. इसका कथानक उदात्त होता है। इसमें उदात्त चरित्र का संकीर्तन होता है।
4. इसके कथानक का विभाजन उच्छ्वास नाम से किया जाता है।
5. कुछ आचार्यों के अनुसार नायक अपना वृत्तान्त स्वयं कहता है।
6. समय-समय पर आर्या, वक्त्र एवं अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा, मालिनी छन्दों के द्वारा भावी घटना को सूचित किया जाता है।

7. इन छन्दों में अन्योक्ति, समासोक्ति, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग किया जाता है।

8. कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भशृंगार, नायक के अभ्युदय आदि का वर्णन होता है।

9. आख्यायिका की कथावस्तु ऐतिहासिक होती है।

10. इसका नायक कोई ऐतिहासिक पुरुष होता है।

कथा और आख्यायिका में अन्तर

	कथा	आख्यायिका
1.	कथा की भाषा संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश होती है।	आख्यायिका की भाषा केवल संस्कृत होती है।
2.	कथा में वक्त्र-अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं होता है।	आख्यायिका में वक्त्र-अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है।
3.	यह उच्छ्वास रहित होता है।	कथानक का विभाजन उच्छ्वासों में होता है।
4.	किसी अन्य के द्वारा नायक के चरित्र का वर्णन होता है।	नायक स्वयं अपने चरित्र का वर्णन करता है।
5.	कथावस्तु काल्पनिक होती है।	कथावस्तु ऐतिहासिक होती है।
6.	नायक तथा अन्य पात्र भी काल्पनिक होते हैं।	नायक ऐतिहासिक पुरुष होता है।

ऊपर दिये गए कथा और आख्यायिका में अन्तर पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये अन्तर स्थूल हैं। इनके आधार पर कथा और आख्यायिका के मध्य कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा कथा और आख्यायिका के अन्तर को अस्वीकार करते हुए कहते हैं - कोई रचना संस्कृत में हो या प्राकृत में अथवा अपभ्रंश में इससे क्या आता-जाता है ? वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों की स्थिति का भी वही हाल है। एक तो गद्यकाव्य में पद्य की कोई सार्थकता नहीं है, विशेषत: तब जब वह अत्यन्त विरल हो और केवल भावी घटनाओं की सूचना के लिए प्रयुक्त हो। वैसे ही कथानक का विभाजन

उच्छ्वास में रहे या न रहे, उसे लगातार कहते चलें या खण्डों में बाँट दें, बात बराबर है। हाँ, नायक सम्बन्धी भेद स्वीकार किया जा सकता है। यदि नायक स्वयं अपनी कहानी कहता है तो उत्तमपुरुष के प्रयोग के कारण उसमें अधिक आत्मीयता की छाप रहेगी। किसी दूसरे के कहने पर अपेक्षाकृत तटस्थता का भान होगा। इससे श्रोता की मानसिक प्रतिक्रिया में थोड़ा-बहुत तारतम्य आ जाता है। (काव्यालंकार, भूमिका पृ. 28)

आचार्य दण्डी भी कथा और आख्यायिका के अन्तर को अमान्य मानते हैं। उनके अनुसार इन दोनों में कोई स्पष्ट भेदक तत्व नहीं है। वे कथा और आख्यायिका के भेदों का खण्डन करते हैं।

1. प्राचीन आचार्यों ने कथा और आख्यायिका में अन्तर स्थापित करते हुए बताया है कि आख्यायिका में नायक स्वयं अपनी कथा कहता है जबकि कथा में कहीं नायक स्वयं अपनी कथा कहता है और कहीं अन्य व्यक्ति उसकी कथा का वर्णन करता है। नायक विषयक यह भेद असंगत है। क्योंकि ऐसा भी देखा गया है कि आख्यायिका में भी कथा का वर्णन अन्य व्यक्ति द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त नायक के वृतान्त का वर्णन नायक स्वयं करें या कोई दूसरा इससे कथा में कोई भेद उत्पन्न नहीं होता है।

2. जिस प्रकार आख्यायिका का प्रकरण विभाजन उच्छ्वास में होता है, उसी प्रकार कथा का विभाजन लम्बक में होता है। यह अन्तर तो नाम-मात्र में है। इसका कथावस्तु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। कथा और आख्यायिका में छन्द सम्बन्धी भेद भी ठीक नहीं है। आचार्यों का मानना है कि आख्यायिका में वक्त्र-अपरवक्त्र छन्द होते हैं जबकि कथा में नहीं होते हैं। परन्तु कथा में आर्या छन्द देखा जाता है। छन्दों की स्थिति से कथानक पर कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। आख्यायिका में वक्त्र-अपरवक्त्र रहने से किसी वैशिष्ट्य का आधान नहीं होता है और न ही इनके अभाव से कथा में कोई हानि होती है। इसलिए कथा और आख्यायिका में छन्द विषयक भेद तर्कहीन है। किसी रचना में कौन सा छन्द रहे और कौन सा छन्द न रहे - इसका कोई पुष्ट आधार नहीं है। रचनाकार छन्दों का प्रयोग अपने विवेक से वर्ण्य-विषय के आधार पर करता है, किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं।

4. आचार्यों ने कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भशृंगार, नायक के अभ्युदय आदि को

आख्यायिका का वर्णनीय विषय माना है। परन्तु इन विषयों का वर्णन महाकाव्य में भी होता है। यदि ये विषय केवल आख्यायिकानिष्ठ होते तो इनको कथा और आख्यायिका का भेदक तत्त्व माना जा सकता है परन्तु ऐसा नहीं है। कोई कथाकार अपनी रचना में इन विषयों का वर्णन करे तो उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार कन्याहरण, युद्धादि विषयों को कथा और आख्यायिका का भेदक तत्त्व नहीं माना जा सकता है।

आचार्य भामह ने अभिप्रायगर्भित चिह्न के प्रयोग को आख्यायिका का वैशिष्ट्य माना है। इस विषय में आचार्य दण्डी का कहना है कि यदि ऐसे चिह्नों का प्रयोग कथा में न किया जाए तो इससे भी कोई हानि नहीं होगी। इन अभिप्रायगत चिह्नों का प्रयोग महाकाव्य में भी होता है। महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' में प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' महाकाव्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए अभिप्रायगत चिह्नों का प्रयोग केवल आख्यायिका में होता है ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। कवि स्वेच्छा से महाकाव्य, खण्डकाव्य कथा, आख्यायिका आदि में इनका प्रयोग कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य दण्डी कथा और आख्यायिका में कोई अन्तर स्वीकार नहीं करते हैं। वे इन दोनों को एक ही जाति की रचना मानते हैं। इतना ही नहीं वे गद्य काव्य के अन्य भेद को भी इन्हीं में गतार्थ मानते हैं। महाकवि बाणभट्ट प्रणीत कादम्बरी और हर्षचरित्र को क्रमशः कथा और आख्यायिका का सुन्दर उदाहरण माना जाता है।

तत् कथाऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥

काव्यादर्श 1.25-27

गद्यकाव्य के अन्य प्रकार

कथा एवं आख्यायिका के अतिरिक्त गद्यकाव्य के कुछ अन्य भेदों का उल्लेख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने परिकथा, सकलकथा और खण्डकथा का उल्लेख किया है। आचार्य अभिनवगुप्त भी परिकथा, सकलकथा और खण्डकथा का उल्लेख करते हैं। जैनाचार्य हेमचन्द्र कथा और आख्यायिका के अतिरिक्त गद्यकाव्य के अन्य 10

प्रकारों का उल्लेख करते हैं - आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा तथा बृहत्कथा।

1. आख्यान - किसी एक कथा के मध्य उस कथा को समझाने के लिए अन्य कथा या उपाख्यान का वर्णन करना आख्यान है।
2. निदर्शन - जिस रचना में पशु-पक्षियों या अन्य प्राणियों की चेष्टाओं से कार्य और अकार्य का प्रतिपादन किया जाये, उसको निदर्शन कहते हैं।
3. प्रवह्लिका - कथा के प्रधान पात्र को लेकर दो व्यक्तियों के विवाद का सरस वर्णन प्रवह्लिका है।
4. मतल्लिका - प्रेत-भाषा या महाराष्ट्र भाषा में लिखी गई क्षुद्र कथा या लघु कथा को मतल्लिका कहते हैं। एक अन्य वर्णन के अनुसार किसी पुरोहित या मंत्री द्वारा कार्य का आरम्भ करके बीच में छोड़ देने पर होने वाले उपहास का वर्णन मतल्लिका है।
5. मणिकुल्या - जहाँ पहले वस्तु दिखाई न पड़े पर आगे चलकर प्रकट हो जाए तो ऐसी रचना मणिकुल्या कहलाती है।
6. परिकथा - धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से किसी एक को आधार बना कर अनन्त वृत्तान्तों का वर्णन परिकथा है।
7. खण्ड कथा - किसी ग्रन्थ के इतिवृत्त के मध्य या अन्त को लेकर लिखी गई रचना खण्ड कथा है।
8. सकल कथा - जिस कथा में सभी पुरुषार्थों का वर्णन किया जाये, उसको सकल कथा कहते हैं।
9. उप कथा - प्रसिद्ध कथा का एक चरित्र में वर्णन करना उपकथा है।
10. बृहत्कथा - अद्भुत अर्थों से युक्त कथा अनेक लम्भकों में विभाजित कथा बृहत्कथा होती है।

इस प्रकार संस्कृत गद्य साहित्य अत्यन्त विशाल तथा समृद्ध था परन्तु वर्तमान में ये सम्पूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है।

2.3 मिश्रकाव्य (चम्पू-काव्य)

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। साहित्यदर्पण 6/336

अनुवाद - गद्य और पद्य से युक्त रचना चम्पू काव्य कहलाता है।

विमर्श – सभी आचार्य चम्पू काव्य की परिभाषा लगभग इसी रूप में देते हैं। आचार्य दण्डी ने चम्पू काव्य की परिभाषा दी है – **गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते।** अर्थात् कुछ लोग गद्य-पद्यमयी रचना को चम्पू काव्य कहते हैं। यहाँ 'काचित्' (कुछ लोग) पद के प्रयोग से पता चलता है कि आचार्य दण्डी के समय में चम्पू काव्य की रचना का प्रचलन था। उनसे पूर्व चम्पू काव्य लिखा जाता था। लोगों में इसके बारे में चर्चा होती थी। इसी आधार पर आचार्य दण्डी ने चम्पू काव्य की परिभाषा दी है।

चम्पू काव्य की मुख्य विशेषताएँ –

1. गद्य-पद्य की मिश्रित शैली। गद्य और पद्य के मिश्रण के कारण ही इसको मिश्रकाव्य भी कहा जाता है।
2. सांक होना अर्थात् अंक से युक्त होना।
3. इतिवृत्त का उच्छ्वासों में विभाजन – चम्पू काव्य का कथानक उच्छ्वासों में विभाजित होता है। कुछ काव्य स्तवक या उल्लास में विभाजित हैं। चम्पू काव्य के उल्लास की संख्या के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। यह महाकाव्य के समान आठ उल्लासों से अधिक भी हो सकता है तथा इससे कम भी।

5\. नायक – चम्पू काव्य का नायक यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, पशु अथवा पक्षी कोई भी हो सकता है। इसमें पात्रों की संख्या का कोई नियम नहीं है। इसमें नायिका का होना आवश्यक नहीं है।

6\. रस – चम्पू काव्य का मुख्य रसशृंगार, वीर अथवा शान्त होता है। अन्य रस अङ्गी होते है।

7\. भाषा शैली – चम्पू काव्य की भाषा शैली चमत्कारपूर्ण होती है। कवि अपनी इच्छा से पद्यों में मात्रिक अथवा वार्णिक छन्दों का प्रयोग करता है। विविध अलंकारों के प्रयोग से गद्य वाले अंश में समास बहुलता देखी जाती है।

8\. वर्ण्य विषय – इतिवृत्त के वर्णन के साथ कवि इसमें प्रकृति का सुन्दर चित्रण करता है। दुर्जन पुरुषों की निन्दा तथा सज्जनों की स्तुति होती है। महाकाव्य के समान ही इसका प्रारंभ मङ्गलाचरण से तथा समापन भरतवाक्य से होता है।

इस प्रकार गद्य और पद्य का मिश्रण होने के कारण इसमें अनुपम सौन्दर्य होता है। रामायण चम्पू के रचयिता भोजराज चम्पू को वाद्य से युक्त गायन के समान चित्ताकर्षक मानते हैं।

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिर्हृद्या हि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।

रामायणचम्पू 1/3

इस काव्य में पाठक को एक साथ पद्य और गद्य का आनन्द प्राप्त होता है। पद्यों के माध्यम से जहाँ भावाभिव्यक्ति मनोरम हो जाती है, वहीं गद्य से वर्ण्यविषय का सम्यक् प्रतिपादन होता है। त्रिविक्रम भट्ट कृत्य नलचम्पू चम्पू काव्य का आदि ग्रन्थ है। इसके बाद अनेक चम्पू काव्य लिखे गये, जिनमें सोमदेव सूरी विरचित यशस्तिलक चम्पू, हरिश्चन्द्र कृत जीवन्धचम्पू, भोजराज कृत रामायणचम्पू, अनन्त भट्ट कृत भारतचम्पू आदि अनेक महत्त्वपूर्ण चम्पू काव्यों की रचना हुई।

3
शब्दशक्ति

आचार्य मम्मट शब्दों के तीन प्रकार स्वीकार करते हैं - वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक (**स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्तथा**)। इन त्रयविध शब्दों से तीन प्रकार के अर्थ का बोध होता है–वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ (**वाच्यलक्ष्यव्यंग्याः**)। वाचक शब्दों से वाच्यार्थ का, लाक्षणिक शब्दों से लक्ष्यार्थ का तथा व्यञ्जक शब्दों से व्यंग्यार्थ का बोध होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि एक शब्द प्रसंगानुसार कभी वाचक होता है, कभी लाक्षणिक होता है और कभी व्यञ्जक होता है। यह पूर्ण रूप से वक्ता के कौशल पर निर्भर करता है कि वह शब्दों का प्रयोग किस रूप में करता है। जैसे - गंगायां घोषः (गंगा में अहीर का घर)। यहाँ 'गंगा' शब्द से वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीनों ही अर्थ निकलते हैं।

गंगायां घोषः- गंगा में अहीर का घर-यहाँ गंगा शब्द वाचक है तथा इसका वाच्यार्थ है-गंगा का प्रवाह।

गंगायां घोषः-गंगा तट पर अहीर का घर-यहाँ गंगा शब्द लाक्षणिक है तथा इसका लक्ष्यार्थ है-गंगा तट।

गंगाया घोषः- गंगा की शीतलता - पावनता से युक्त अहीर का घर - यहाँ गंगा शब्द व्यञ्जक है तथा इसका व्यंग्यार्थ शीतलता और पावनता है। इस प्रकार एक ही शब्द अर्थ भेद से वाचक, लाक्षणिक या व्यंजक हो सकता है। शब्दों का वर्गीकरण उपाधि के कारण है। कोई शब्द वाचक या लाक्षणिक या व्यञ्जक है यह उससे प्राप्त होने वाले अर्थ पर निर्भर करता है। अर्थ - निष्पत्ति की दृष्टि से शब्द की चार अवस्थाएँ होती हैं -

1. वाचक,
2. वाचक तथा लाक्षणिक

3. वाचक तथा व्यञ्जक और
4. वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक

1. **वाचक**- यथा- रामः गच्छति। यहाँ 'रामः' और 'गच्छति' दोनों पद वाचक हैं क्योंकि इनसे केवल वाच्यार्थ की प्रतीति हो रही है। इन पदों से लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रतीति की कोई सम्भावना नहीं है।

2. **वाचक तथा लाक्षणिक**- यथा- कुन्ताः प्रविशन्ति। यहाँ 'कुन्ताः' पद वाचक और लाक्षणिक दोनों है। इसका वाच्यार्थ है-भाला तथा लक्ष्यार्थ है-भालाधारी पुरुष। इस वाक्य का वाच्यार्थ हुआ-भाले प्रवेश करते हैं तथा लक्ष्यार्थ हुआ- भालेधारी पुरुष प्रवेश करते हैं।

3. **वाचक और व्यञ्जक**- यथा- उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते---। यहाँ 'उपकृतं' पद वाचक और व्यञ्जक दोनों है। इसका वाच्यार्थ है-उपकार किया है तथा व्यंग्यार्थ है-अपकार किया है। वस्तुतः हानि पहुँचाने वाले किसी व्यक्ति के प्रति यह कथन है। यदि किसी हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के विषय में कहा जाए कि तुमने मेरा बहुत उपकार किया है, तुम्हारी सज्जनता को क्या कहा जाए तब इसका तात्पर्य होता है तुम दुर्जन हो, तुमने मेरा बहुत अपकार किया है। ऐसे स्थलों पर प्रथम अर्थ वाच्यार्थ होता है और द्वितीय अर्थ व्यंग्यार्थ होता है।

4. **वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक**- यथा-गंगायां घोषः। यहाँ 'गंगायां' पद वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीनों है। इस पद का वाच्यार्थ है-गंगा में, लक्ष्यार्थ है-'गंगा तट पर' और व्यंग्यार्थ है-'गंगा की शीतलता और पावनता से युक्त'। इस प्रकार 'गंगाया घोषः' के तीन अर्थ है- 1. गंगा में घोष (वाच्यार्थ), 2. गंगा तट पर घोष (लक्ष्यार्थ) और 3. गंगा की शीतलता और पावनता से युक्त घर। इन तीन अर्थों में वक्ता का अभिप्राय व्यंग्यार्थ में है। यह अर्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के निषेध के बाद ही गृहीत होता है। इस प्रकार इस उदाहरण में एक ही पद वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीनों है।

प्रश्न - क्या शब्द से अर्थ-ग्रहण अनायास हो जाता है या इसकी कोई प्रक्रिया है?

शब्द से अर्थग्रहण अनायास नहीं होता है। इसकी प्रक्रिया होती है तथा उस प्रक्रिया को व्यापार कहते हैं। संस्कृत साहित्य में शब्द से अर्थ के ग्रहण की प्रक्रिया के लिए व्यापार, शक्ति, वृत्ति आदि पदों का प्रयोग किया गया है।

काव्यशास्त्र में शब्दों को तीन प्रकार का बताया गया है- वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक। अर्थ भी तीन प्रकार के हैं - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। तीन प्रकार के शब्दों से अर्थ निष्पत्ति के लिए तीन प्रकार के व्यापार भी स्वीकार किये गये हैं - अभिधा व्यापार, लक्षणा व्यापार तथ व्यञ्जना व्यापार। आचार्य मम्मट भी तीन प्रकार के शब्द, तीन प्रकार के अर्थ तथा तीन प्रकार के व्यापार स्वीकार करते हैं-

वाचक शब्द - अभिधावृत्ति - वाच्यार्थ

लाक्षणिक शब्द - लक्षणावृत्ति - लक्ष्यार्थ

व्यञ्जक शब्द - व्यञ्जनावृत्ति - व्यंग्यार्थ

3.1 अभिधावृत्ति

वाचक - साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।

काव्यप्रकाश सूत्र 9

अनुवाद - जो साक्षात् संकेतित अर्थ को कहता है, वह वाचक है।

विमर्श - प्रत्येक शब्द का एक सुनिश्चित अर्थ होता है। शब्द का सुनिश्चित अर्थ ही उसका संकेतित अर्थ होता है। जब श्रोता या पाठक अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया में शब्द के संकेतिक अर्थ का ग्रहण करता है, तब संकेतित अर्थ वाच्यार्थ तथा उस अर्थ का बोधक शब्द वाचक कहलाता है। जैसे - सेनापति ने अपने अनुचर को कहा-अश्वमानय। अनुचर तुरन्त घोड़ा लेकर आ गया। यहाँ अश्व शब्द का संकेतित अर्थ घोड़ा है तथा आनय का संकेतित अर्थ लाना है। अनुचर अश्व और आनय दोनों ही पदों के संकेतित अर्थ को जानता था। तभी वह सेनापति के वाक्य का तात्पर्य समझ पाया तथा उसी अनुरूप कार्य किया। जब तक श्रोता प्रयुक्त पदों के संकेतित अर्थ को नहीं जानता है, तब तक वह वक्ता के वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाता है। इसलिए वाच्यार्थ-ग्रहण के लिए प्रयुक्त पदों के संकेतित अर्थ का ज्ञान आवश्यक है।

प्रश्न - शब्दों के संकेतित अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ?

शास्त्रों में शब्दों के संकेतित अर्थ को जानने के लिए अनेक उपाय बताए गए हैं।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति, सिद्धपद का सान्निध्य आदि से शब्दों के संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, ऐसा श्रेष्ठ जन कहते हैं।

1. व्याकरण - व्याकरण शास्त्र के अध्ययन से धातु, प्रत्यय, विभक्ति, लिङ्ग, वचन, काल आदि का ज्ञान होता है। धातु, प्रत्यय आदि के ज्ञान से शब्द के संकेतग्रह का ज्ञान होता है।
2. उपमान - उपमान न्याय दर्शन में एक प्रमाण है। कोई व्यक्ति जंगली जानवर 'गवय' को नहीं जानता है। किसी दूसरे ने उसको बताया कि गवय गाय के समान होता है। इसको न्याय दर्शन में उपमान कहते हैं। उपमान प्रमाण संकेत ग्रह का एक अच्छा उपाय है।
3. कोश - कोश ग्रन्थों में शब्दों के अर्थ दिये होते हैं। कोश ग्रन्थों का अध्ययन संकेतग्रह का एक अच्छा उपाय है।
4. आप्तवाक्य - आप्त वाक्य का अर्थ है - विश्वसनीय व्यक्ति का कथन। विश्वसनीय व्यक्ति का कथन संकेतग्रह का प्रामाणिक स्रोत है। अनेक ऐसे विषय हैं जिसका ज्ञान आप्तवाक्य से होता है।
5. व्यवहार - किसी व्यक्ति को किसी की बात सुनकर उसके अनुसार कार्य करते हुए देखकर शब्दार्थ ज्ञान होता है। बच्चों को व्यवहार के माध्यम से ही संकेतग्रह होता है।
6. वाक्यशेष - वाक्यशेष से तात्पर्य है - वाक्य के किसी शब्द का अर्थ उस वाक्य में प्रयुक्त अन्य शब्दों से हो जाता है। यथा-अध्यापक बच्चों को पुस्तक पढ़ाता है। मान लीजिए किसी को पुस्तक का अर्थ पता नहीं है। वह व्यक्ति इस वाक्य में प्रयुक्त अन्य पदों के साहचर्य से पुस्तक का अर्थ जान जाता है।
7. विवृति - विवृति विवरण या व्याख्या को कहते हैं। पदों की विवृति अर्थात् व्याख्या कर देने से भी अर्थग्रहण होता है, जैसे - कुम्भकार। इस पद की व्याख्या (घड़ा बनाने वाला) कर देने पर इस पद का संकेतग्रह कुम्हार हो जाता है।
8. सिद्धपद की निकटता - किसी प्रसिद्ध पद के साथ प्रयुक्त अप्रसिद्ध पद का अर्थ ग्रहण उस पद के कारण हो जाता है। जैसे - वसन्त ऋतु में आम्रवृक्ष पर कोयल मधुर ध्वनि कर रही है। इस वाक्य में 'कोयल पक्षी

का अर्थ -ज्ञान वसन्त ऋतु और आम्रवृक्ष की निकटता से समझा जा सकता है।

इस प्रकार इन साधनों का प्रयोग कर शब्द के अर्थ का ज्ञान किया जाता है। किसी शब्द का क्या अर्थ है यह जानना ही संकेतग्रह है।

अभिधा- स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।

काव्यप्रकाश, सूत्र-11

अनुवाद - वह (साक्षात् संकेतित अर्थ ही) मुख्य अर्थ है। उस अर्थ की प्रतीति में शब्द का जो व्यापार होता है, उसको अभिधा कहते हैं। यह शब्द का मुख्य व्यापार है।

विमर्श - अभिधा को शब्द से अर्थ प्रतीति का मुख्य व्यापार या वृत्ति कहते हैं। अभिधा वृत्ति से ही शब्द का मुख्य अर्थ तथा वाक्य का वाक्यार्थ प्रकट होता है। इसीलिए इसको मुख्य वृत्ति कहते हैं। समस्त संसार का लौकिक व्यवहार अभिधावृत्ति से ही सम्पन्न होता है। इसी प्रकार अभिधा वृत्ति से लभ्य अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। श्रोता को सर्वप्रथम वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रतीति बाद में होती है, इसलिए इसको मुख्यार्थ भी कहते हैं। जिस प्रकार से मनुष्य के शरीर में विविध अवयवों में मुख सबसे पहले दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ की प्रतीति सबसे पहले होती है। इस सम्बन्ध में वामन झलकीकर का कहना है -

स हि यथा सर्वेभ्योहस्तपादादिभ्योऽवयवेभ्य: पूर्वं मुखमवलोक्यते तथा सर्वेभ्य: प्रतीतमानेभ्योऽर्थेभ्यो पूर्वमवगम्यते।

लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियाँ तो प्रयोजननिष्ठ होती हैं। उनका उपयोग किसी विशिष्ट प्रयोजन या अर्थ को प्रकट करने के लिए किया जाता है।

3.2 लक्षणा

मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

काव्यप्रकाश, सूत्र -12

अनुवादः- मुख्यार्थ के बाध होने पर, उसके साथ योग होने पर रूढि या

प्रयोजनवश जिसके द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है। वह आरोपित क्रिया लक्षणा है।

विमर्श - लक्षणा के इस लक्षण में लक्षणा वृत्ति हेतु आवश्यक शर्तों का निर्देश किया गया है :-

1. **मुख्यार्थ बाध** : मुख्यार्थ बाध से तात्पर्य है - अभिधा वृत्ति से प्राप्त मुख्य अर्थ का बाध होना। अर्थात् वक्ता जिस अभिप्राय से कोई वाक्य प्रस्तुत करता है, उस वाक्य के अभिधेयार्थ का वक्ता के अभिप्राय से संगत न होना मुख्यार्थ बाध है। यथा कोई व्यक्ति घर से बाहर निकल रहा था। आंगन में दही थी। उसने घर के दूसरे सदस्य को कहा- **काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**। इस वाक्य का अभिधेयार्थ है - कौओं से दही की रक्षा करना। परन्तु वक्ता का अभिप्राय है - कौआ, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु-पक्षियों से दही की रक्षा करना। इस प्रकार यहाँ वाक्य के अभिधेयार्थ तथा वक्ता के अभिप्राय में असंगति है। इसी को मुख्यार्थ बाध कहते है। इसी प्रकार चित्रादि रचना कर्म में निपुण व्यक्ति को देखकर किसी ने कहा - **कर्मणि कुशलः।**

इस वाक्य में प्रयुक्त कुशल शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है - कुशान् लाति इति कुशलः। अर्थात् कुश घास को लाने वाला कुशल होता है। परन्तु यहाँ कर्मणि (कर्म) के साथ कुश लाने वाले की कोई संगति नहीं है। इसलिए यहाँ भी मुख्यार्थ बाध है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थ बाध प्रथम शर्त है। मुख्यार्थ बाध के बाद ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है।

तद्योगे - लक्षणा की दूसरी शर्त है कि वक्ता का तात्पर्य उसके द्वारा प्रयुक्त वाक्य के अभिधेयार्थ से सम्बद्ध होना चाहिए। अर्थात् वक्ता का तात्पर्य मुख्यार्थ बाध के साथ-साथ मुख्यार्थ से सम्बद्ध होना भी आवश्यक है। वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ से सम्बद्ध नहीं होने पर तात्पर्यार्थ तक पहुँचना असम्भव हो जाता है। इसलिए लक्षणा में मुख्यार्थ से सम्बद्ध उस अर्थ को लिया जाता है जो मुख्यार्थ से भिन्न हो। मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को ले लेने पर मुख्यार्थ की समस्या दूर हो जाती है। जैसे - 'कर्मणि कुशलः' में 'कुशल' पद का व्युत्पतिपरक अर्थ 'कुशा घास लाने वाला' ग्रहण करने पर 'कर्मणि' (कर्म) के साथ इसका कोई संबंध नहीं बन पा रहा है। इसलिए यहाँ मुख्यार्थ बाध हुआ। परन्तु इससे सम्बद्ध अर्थ -निपुण' ग्रहण करने पर मुख्यार्थ बाध की समस्या दूर हो जाती है और यह पद 'कर्मणि' के साथ संगत हो जाता है। तब इसका अर्थ

होता है – कर्म में निपुण। कुशल और निपुण में साधर्म्य सम्बन्ध है। 'कुश लाना' निपुणता का परिचायक है। कुश लाने वाला व्यक्ति बड़ी सावधानी से विविध घासों के बीच कुशा का चयन करता है। उसके बाद बहुत सावधानी पूर्वक कुशा को जड़ से उखाड़ना पड़ता है, क्योंकि जड़ से उखाड़ी गई कुशा का ही यज्ञ में उपयोग होता है। इसके तने और पत्तियाँ अत्यन्त धारदार होती हैं। जिससे हाथ कटने का डर होता है। कुशा घास लाने का काम कोई निपुण व्यक्ति ही कर सकता है। इस प्रकार यहाँ साधर्म्य सम्बन्ध के आधार पर कुशल पद के मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ ग्रहण कर लेने पर हम वक्ता के तात्पर्य तक पहुँच जाते हैं।

'गंगायां घोष:' में गंगा पद के मुख्यार्थ 'प्रवाह' को छोड़कर उससे सम्बद्ध 'गंगा तट' अर्थ ग्रहण कर लेने पर मुख्यार्थ बाध की समस्या दूर हो जाती है। प्रवाह और तट के मध्य सामीप्य-सम्बन्ध है। इस प्रकार यहाँ गंगा के लिए प्रयुक्त तट अर्थ 'मुख्यार्थ बाध' और 'मुख्यार्थ योग' (तद्योग) शर्त को पूरा करता है।

रूढितोऽथप्रयोजनात् – लक्षणा वृत्ति की तीसरी शर्त है – रूढ़ि अथवा प्रयोजन। कारिका में 'अथ' अथवा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य है कि वक्ता रुढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण ही लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेता है। इसलिए इसको गौणी वृत्ति कहते हैं।

कुछ शब्द समय के साथ अपने मूल अर्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं, इसी को रूढ़ि कहते हैं। जैसे-'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- कुशान् लाति इति कुशल:। परन्तु कालान्तर में यह शब्द निपुण के अर्थ में रूढ़ हो गया। इसी प्रकार लावण्य, अनुकूल, प्रतिकूल आदि अनेक शब्द हैं जो अपने मूल अर्थ से भिन्न अर्थ में रूढ़ हो गये हैं।

प्रयोजन से तात्पर्य है-विशिष्ट अभिप्राय अर्थात् वक्ता इसमें किसी विशिष्ट अभिप्राय से लाक्षणिक पदों का प्रयोग करता है, परन्तु लक्ष्यार्थ उसका अभिप्राय नहीं होता है। जैसे-गंगायां घोष:। यहाँ 'गंगायां' पद के प्रयोग में वक्ता का विशिष्ट अभिप्राय है- गंगा का शीतत्व-पावनत्व। परन्तु यह इस पद का लक्ष्यार्थ नहीं है। इस पद का लक्ष्यार्थ है-गंगा तट। इस प्रकार वक्ता अपने विशिष्ट अभिप्राय को प्रकट करने लिए लाक्षणिक पदों का आश्रय लेता है। यही प्रयोजनवती लक्षणा का मूल है।

आरोपित क्रिया-आरोपिक का अर्थ है-कृत्रिम। लक्षणा स्वाभाविक क्रिया नहीं है। स्वाभाविक क्रिया तो अभिधा वृत्ति में होती है। इसमें तो मुख्यार्थ पर लक्ष्यार्थ का आरोप किया जाता है। जैसे-'गंगायां घोष: में गंगा' पर तट का आरोप किया जाता है। अत: यह आरोपित क्रिया है।

लक्षणाभेद (लक्षणा तेन षड्विधा)

आचार्य मम्मट ने उपचार के आधार पर लक्षणा को दो वर्गों में बाँटा है -

1. **शुद्धा** तथा 2. **गौणी**

उपचार से रहित लक्षणा शुद्धा कहलाती है जबकि उपचार से युक्त लक्षणा गौणी होती है। आचार्य मम्मट ने शुद्धा और गौणी का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है परन्तु उपचार को इन दोनों का भेदक तत्त्व स्वीकार किया है। **उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।** यहाँ पर शुद्धा के सम्बन्ध में कहा गया है – **शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्** अर्थात् उपचार से मिश्रित न होना शुद्धा है। शुद्धा लक्षणा के सम्बन्ध में कही गई इसी बात के आधार पर गौणी उपचार से मिश्रित सिद्ध होती है – **उपचारेण मिश्रितत्वात् गौणी।**

अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनमें भेद की प्रतीति का न होना उपचार है – **उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयो: पदार्थयो: सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।** जैसे -**सिंहो माणवक:** (यह बच्चा शेर है)। यहाँ बच्चा और शेर दोनों अत्यन्त भिन्न हैं परन्तु बच्चा के शौर्य आदि को देखकर उसको शेर कहा गया है। इस प्रकार भिन्न होने पर भी शौर्यादि दोनों में समान है। इसी सादृश्य के आधार पर **सिंहो माणवक:** कहा गया है। यह उपचार मूलक कथन है। इस प्रकार के उपचार मूलक कथन गौणी की श्रेणी में आते हैं।

उपचार से रहित लक्षणा शुद्धा होती है। इसमें सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त सामीप्यादि रूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक होता है।

उपादान और लक्षण लक्षणा

स्वसिद्धये पराक्षेप: परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥

काव्यप्रकाश, सूत्र -13

अनुवाद - अपने अन्वय की सिद्धि के लिए (स्वसिद्धये) अन्य अर्थ का आक्षेप (पराक्षेपः) करना उपादान लक्षणा है तथा दूसरे के अन्वय की सिद्धि के लिए (परार्थ) अपने अर्थ का परित्याग करना (स्वसमर्पणम्) लक्षण लक्षणा है। ये दोनों शुद्धा के ही भेद हैं (**शुद्धैव सा द्विधा**)।

विमर्श- शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की होती है - उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। **उपादान लक्षणा** का मम्मट कृत लक्षण है - **स्वसिद्धये पराक्षेपः** अर्थात् अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का ग्रहण करना उपादान लक्षणा है। लक्षणा की शर्त है - मुख्यार्थ बाध। इस मुख्यार्थ बाध की समस्या को दूर करने के लिए अपने अर्थ के साथ-साथ दूसरे अर्थ का ग्रहण किया जाता है तब उपादान लक्षणा होती है।

आचार्य मम्मट ने उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिये हैं - **कुन्ताः प्रविशन्ति** तथा **यष्टयः प्रविशन्ति। कुन्ताः प्रविशन्ति** (भाले प्रवेश करते हैं)। इस उदाहरण में कुन्त निर्जीव पदार्थ है। निर्जीव पदार्थ का प्रवेश करना असम्भव है। अतः यहाँ मुख्यार्थ बाध हो रहा है तथा वाक्य का तात्पर्य स्पष्ट नहीं हो रहा है। ऐसे में तात्पर्य की स्पष्टता के लिए यह वाक्य अन्य अर्थ का ग्रहण करता है - **कुन्तधारिणः पुरुषाः प्रविशन्ति** (भालेधारी पुरुष प्रवेश करते हैं।) इस प्रकार यहाँ अन्य अर्थ का ग्रहण करने में मुख्यार्थ बाध की समस्या दूर हो जाती है तथा तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार **यष्टयः प्रविशन्ति** (छड़ियाँ प्रवेश कर रही हैं) में छड़ी धारण करने वाले पुरुष का ग्रहण करने पर मुख्यार्थ बाध की समस्या दूर हो जाती है तथा वाक्य का तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इन दोनों उदाहरणों में भाले और छड़ी अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ को त्यागे बिना अपने से सम्बद्ध पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं।

लक्षण लक्षणा का मम्मट कृत लक्षण है - **परार्थं स्वसमर्पणम्** अर्थात् दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का त्याग करना लक्षण लक्षणा है। इसका तात्पर्य है कि उपादान लक्षणा में जहाँ तात्पर्य की सिद्धि के लिए अपने अर्थ को रखते हुए सम्बद्ध अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है वही लक्षण लक्षणा में तात्पर्य की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का त्याग तथा दूसरे अर्थ का ग्रहण किया जाता है।

उदाहरण - **गंगायां घोषः** (गंगा में अहीर का घर)। गंगा पद सामान्य

रूप से गंगा नदी की धारा (प्रवाह) के लिए प्रयुक्त होता है। जब कोई कहता है - गंगा नहाने जा रहा हूँ तब वह गंगा पद का प्रयोग तट के लिए नहीं अपितु प्रवाह के लिए करता है। '**गंगायां घोषः**' में गंगा के प्रवाह में घोष का होना असम्भव है। ऐसी स्थिति में गंगा पद अपने अर्थ प्रवाह का त्याग कर देता है तथा दूसरा अर्थ तट ग्रहण कर लेता है। इससे **गंगायां घोषः** का अर्थ (गंगा) **तटे घोषः** (तट पर घोष) हो जाता है।

सारोपा और साध्यवसानिका

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका॥

काव्यप्रकाश, सूत्र -14-15

अनुवादः-जहाँ पर विषय और विषयी दोनों का कथन किया जाता है - वह दूसरे प्रकार (अन्या) की सारोपा लक्षणा है तथा विषयी के द्वारा विषय को अपने में समाहित (**विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्**) कर लेने पर साध्यवसानिका लक्षणा होती है।

विमर्श

सारोपा में विषय और विषयी दोनों स्पष्ट शब्दों में कथित होते हैं। जैसे-

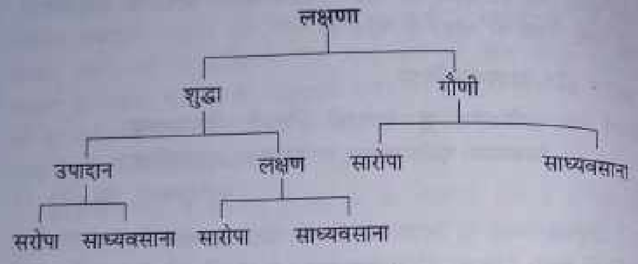
गौर्वाहिकः। यहाँ 'वाहिक' विषय है तथा 'गो' विषयी है। इन दोनों का यहाँ शब्दतः कथन किया गया है। इसलिए यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण है।

साध्यवसाना में विषयी का कथन होता है परन्तु विषय का कथन नहीं होता है। इसमें विषयी विषय को अपने में अन्तर्भूत कर लेता है। इसके कारण विषय और विषयी में अभेद की प्रतीति होती है। जैसे-**गौरयम्**। यहाँ 'गो' विषयी है तथा 'वाहिक' विषय। परन्तु 'वाहिक' पद का शब्दतः कथन नहीं किया गया है। यहाँ विषयी 'गो' के द्वारा विषय 'वाहिक' को अपने में समाहित कर लिया गया है जिसमें दोनों में अभेद की प्रतीति हो रही है। इसलिए यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है।

इस प्रकार लक्षणा के कुल छः भेद हो जाते हैं - **लक्षणा तेन षड्विधा।**

1. उपादान लक्षणा - कुन्ताः प्रविशन्ति
2. लक्षण लक्षणा - गंगायां घोषः

3. शुद्धा सारोपा - आयुर्घृतम्
4. शुद्धा साध्यवसाना - आयुरेवेदम्
5. गौणी सारोपा - गौर्वाहिकः
6. गौणी साध्यवसाना - गौरयम्



3.3 व्यञ्जना

आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना वृत्ति की वैसी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है जैसी अभिधा और लक्षणावृत्ति की दी है।

आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना वृत्ति की सम्यक् परिभाषा दी है–

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।

साहित्यदर्पण 2.12

इसका तात्पर्य है कि अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर शान्त हो जाती है, तब जिस वृत्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह वृत्ति व्यञ्जना है। यह वृत्ति शब्द और अर्थादिक (अर्थ, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग) में रहती है।

व्यञ्जना वृत्ति से प्रतीत होने वाला अर्थ अभिधा और लक्षणा का विषय नहीं होता है, क्योंकि कोई भी वृत्ति एक ही अर्थ देने में समर्थ होती है। वक्ता जब अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए कोई वक्तव्य देता है, तब सर्वप्रथम अभिधा वृत्ति प्रवृत्त होती है। अभिधा से अभिप्राय के न प्रकट होने पर लक्षणा वृत्ति प्रवृत्त होती है। लक्षणा से भी अभिप्राय के प्रकट न होने पर तृतीया वृत्ति व्यञ्जना प्रवृत्त होती है। व्यञ्जना से प्रतीत होने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है।

प्रश्न- व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा और लक्षणा वृत्ति से क्यों नहीं हो सकती है?

इस सन्दर्भ में आचार्य मम्मट का मन्तव्य द्रष्टव्य है। आचार्य मम्मट ने रूढ़ि या प्रयोजन को लक्षणा के लिए आवश्यक बताया है। वक्ता रूढ़ि या प्रयोजन के कारण ही लाक्षणिक पदों का प्रयोग करता है, अन्यथा उसका अधिकांश कार्य अभिधा से ही सम्पन्न हो जाता है। वक्ता जब किसी विशिष्ट प्रयोजन से लाक्षणिक पदों का प्रयोग करता है तब उस प्रयोजन की अभिव्यक्ति लक्षणा वृत्ति से नहीं हो पाती है। उसके लिए एक अलग व्यापार मानने की आवश्यकता है तथा वह व्यापार है - व्यञ्जना।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि लक्षणा वृत्ति से प्रयोजन की प्राप्ति क्यों नहीं हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मम्मट लिखते हैं -

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्यतेऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया॥

काव्यप्रकाश, सूत्र -23

अनुवादः- जिस (प्रयोजन) की प्रतीति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, केवल शब्द से गम्य उस प्रयोजन के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं है।

विमर्श - जब किसी विशिष्ट प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए वक्ता लाक्षणिक पदों का प्रयोग करता है तब उस पद से लक्षणा-वृत्ति से लक्ष्यार्थ तथा व्यञ्जना वृत्ति से उस विशिष्ट प्रयोजन की प्रतीति होती है। इसमें जिस लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है, उसी लाक्षणिक पद से दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा वृत्ति पहले से ही है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराकर लक्षणा वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। प्रयोजन रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति के लिए किसी अन्य वृत्ति को मानने की आवश्यकता होती है। वह दूसरी वृत्ति व्यञ्जना है।

प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा और लक्षणा का विषय नहीं है। अभिधा वृत्ति संकेतित अर्थ को प्रकट करती है। प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ संकेतित अर्थ नहीं है। जैसे -

गंगायां घोषः - गंगा (प्रवाह) में अहीर का घर - वाच्यार्थ
- (गंगा) तट पर अहीर का घर - लक्ष्यार्थ
- गंगा की शीतलता - पावनता से युक्त घर - व्यंग्यार्थ

जब कोई 'गंगायां घोषः' कहता है तब उसका प्रयोजन 'गंगा के तट पर घोष है' यह बताना नहीं होता है, अपितु वह घोष में गंगा की शीतलता और पवित्रता की व्यापकता बताना चाहता है। इस उदाहरण में गंगा पद का संकेतग्रह शीतत्व-पावनत्व में नहीं है। इसलिए संकेतग्रह के अभाव में अभिधा वृत्ति से काम नहीं चल सकता है। अभिधा वृत्ति से सांकेतिक अर्थ ही प्रकट होता है।

नाभिधा समयाभावात् (समय अर्थात् संकेतग्रह के अभाव में अभिधा नहीं हो सकती है।)

प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्षणा वृत्ति से भी संभव नहीं है। इस उदाहरण में 'गंगा' पद का मुख्यार्थ बाध और मुख्यार्थ योग होकर लक्ष्यार्थ निकलता है – तट (गंगातट)। अर्थात् (गंगा) तट पर अहीरों का घर। यह वक्ता का प्रयोजन नहीं है। यदि लक्ष्यार्थ (गंगा) 'तटे घोषः' में फिर से लक्षणा का प्रयोग किया जाए तो पुनः मुख्यार्थ बाध आदि की प्रक्रिया करनी पड़ेगी। इसके लिए लक्ष्यार्थ 'तट पर घोष' को अभिधेयार्थ मानना पड़ेगा। दूसरी बात अभिधेयार्थ के असंगत होने पर ही मुख्यार्थादि बाध होकर लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। यहाँ अभिधेयार्थ 'तट पर घोष' किसी भी रूप में असंगत नहीं है। इसलिए मुख्यार्थादि हेतुओं के अभाव में यहाँ लक्षणा की पुनः प्रवृत्ति नहीं मान सकते हैं। तीसरी बात 'तट पर घोष' को अभिधेयार्थ मानने पर अनवस्था दोष आ जायेगा। चौथी बात कोई भी शब्द वृत्ति एक बार ही प्रवृत्त होती है। इस प्रकार शीतत्व-पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति अभिधा और लक्षणा वृत्तियों से असम्भव है। इसके लिए व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता है।

इस प्रकार जहाँ किसी विशिष्ट प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लाक्षणिक पदों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ लक्षणा-वृत्ति से लक्ष्यार्थ प्रतीति के बाद उन्हीं पदों से विशिष्ट प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तथा वह प्रतीति व्यञ्जना वृत्ति से होती है। लाक्षणिक पदों से व्यंग्यार्थ प्रतीति के कारण इसको **लक्षणामूला व्यञ्जना** कहते हैं। यथा- गंगायां घोषः। इस वाक्य का विशिष्ट प्रयोजन है-घोष में शैत्य-पावनत्व की अभिव्यक्ति। परन्तु इस प्रयोजन की अभिव्यक्ति न तो अभिधा वृत्ति से हो रही है और न ही लक्षणा वृत्ति से। यहाँ अभिधा वृत्ति से जिस अर्थ की प्रतीति हो रही है, वह ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह असम्भव है। लक्षणा वृत्ति से प्राप्त अर्थ (गंगा के तट पर घोष)

वक्ता के वक्तव्य का प्रयोजन नहीं है। वक्ता के प्रयोजन को अभिव्यक्त करने में अभिधा और लक्षणा वृत्तियों के विमुख हो जाने पर तृतीया वृत्ति काम करती है। वह तृतीया वृत्ति है-व्यञ्जना। ऐसी व्यञ्जना को लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं क्योंकि इसमें लक्षणा के लिए प्रयुक्त लाक्षणिक पदों से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

शाब्दी व्यञ्जना का एक अन्य प्रकार है- अभिधामूला व्यञ्जना। जब वक्ता अनेकार्थक पदों का प्रयोग करता है, तब अनेकार्थक पद संयोग, विप्रयोग आदि के कारण एक अर्थ में नियंत्रित हो जाता है और अभिधा वृत्ति से उस अर्थ (नियंत्रित अर्थ) की प्रतीति होती है। परन्तु उस पद में अपर अर्थ देने का सामर्थ्य समाप्त नहीं होता है। कवि-कौशल या वक्ता और श्रोता की विशेषता के कारण उन्हीं पदों से अपर अर्थ की प्रतीति भी होती है। वह अन्य अर्थ लक्षणा का विषय नहीं है और अभिधा नियंत्रित अर्थ प्रकट कर समाप्त हो गई। अब उसकी गति नहीं है। वस्तुतः वह अर्थ व्यंग्यार्थ है और व्यञ्जना वृत्ति का परिणाम है। वाचक पदों से ही इसकी प्रतीति होती है, इसलिए यहाँ प्रवृत्त वृत्ति को अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं।

अनेकार्थक पदों का एकार्थ में निर्णय

शास्त्रीय नियमों के अनुसार अनेकार्थक पदों का एकार्थ में नियंत्रण निम्न प्रकार से होता है–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

काव्यप्रकाश सूत्र -32

अनुवादः- शब्दार्थ के निर्णय न होने पर संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द से सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर इत्यादि विशेष ज्ञान के कारण होते हैं। अर्थात् अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय संयोग, वियोग आदि से किया जाता है।

संयोग और वियोग - **सशंख चक्रो हरिः**। (शंखचक्र सहित विष्णु)

अशंख चक्रो हरिः। (शंखचक्र से रहित विष्णु)

पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त हरि शब्द के यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह, रश्मि, घोड़ा, तोता, सर्प, बन्दर और मेढ़क अर्थ शब्द हैं तथा कपिल अर्थात् पीले अर्थ में हरि पद का प्रयोग तीनों लिङ्गों में हो सकता है।

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णु सिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥

इस प्रकार 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी शंख और चक्र से संयोग और वियोग का वर्णन होने पर 'विष्णु' अर्थ होता है। शंख और चक्र से संयोग और वियोग विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है। इस प्रकार संयोग तथा वियोग से अनेकार्थक शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रित कर वाक्यार्थ का ज्ञान कराया जाता है।

साहचर्य - रामलक्ष्मणौ इति (राम और लक्ष्मण)।

अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग साथ-साथ देखा जाता है तथा उनसे सकारात्मक अर्थ की प्रतीति होती है। ऐसे शब्दों का एक अर्थ में नियंत्रण साहचर्य के कारण ही हो पाता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'राम' शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी दशरथ पुत्र राम में साहचर्य के कारण नियंत्रित हो रहा है।

भ्रातृत्व सम्बन्ध की श्रेष्ठता के उदाहरण के रूप में दशरथ पुत्र राम और लक्ष्मण का साथ-साथ प्रयोग किया जाता है।

विरोधिता - रामार्जुन गतिस्तयोः (उनकी दशा राम और अर्जुन की है)।

इस उदाहरण में राम का अर्थ परशुराम तथा अर्जुन का अर्थ सहस्रार्जुन (कार्तवीर्य) है। राम और अर्जुन पद के अनेक अर्थ हैं। परन्तु जब ये दोनों पद साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं तब राम पद का अर्थ परशुराम में तथा अर्जुन का सहस्रार्जुन में नियंत्रित हो जाता है। यह नियंत्रण दोनों के इतिहास प्रसिद्ध शत्रुता के कारण हुआ है। इस प्रकार विरोध के कारण भी अनेकार्थ शब्दों का एकार्थ में नियंत्रण होता है।

अर्थ - स्थाणुं भज भवच्छिदे (संसार से मुक्ति के लिए शिव का भजन करो)।

यहाँ अर्थ से तात्पर्य है प्रयोजन। प्रयोजन के कारण भी अनेकार्थक शब्दों का नियंत्रण एकार्थ में होता है। इस उदाहरण में संसार से मुक्ति के लिए भजन करने का आदेश दिया गया है। यहाँ मुक्ति प्रयोजन है। इस प्रयोजन के कारण

'स्थाणु' शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'शिव' अर्थ का ग्रहण हो रहा है। यदि यहाँ स्थाणु पद के एक अन्य अर्थ ठूठ का ग्रहण करें तो प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पायेगी। ठूठ के भजन से संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती है।

प्रकरण - सर्वं जानाति देवः (आप (राजा) सब कुछ जानते हैं।)

देव शब्द के अनेक अर्थ होते हैं - **देवो मेघे पुरे राज्ञि** (मेघ, सुर और राजा)। परन्तु यहाँ देव शब्द का नियंत्रण राजा के अर्थ में हो रहा है। यह नियंत्रण प्रकरण के कारण हो रहा है। प्रकरण को नहीं जानने वाला व्यक्ति इसका अर्थ असुर या मेघ भी कर सकता है। ऐसे में जिस प्रकरण में यह बात कही गई है उसमें अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। इसलिए प्रकरण को जानकर अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ में नियंत्रण करना चाहिए।

लिङ्ग - कुपितो मकरध्वजः (मकरध्वज कुपित है)।

लिङ्ग का अर्थ है - धर्म या चिह्न। अर्थात् धर्म या चिह्न के आधार पर भी अनेकार्थक पदों का नियंत्रण एकार्थ में किया जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'मकरध्वज' अनेकार्थक पद है - समुद्र, कामदेव और एक [illegible]र की औषधि। परन्तु समुद्र और औषधि में कोप सम्भव नहीं है। ये दोनों निर्जीव हैं। कोप कामदेव में सम्भव है। ऐसे में कोप रूपी धर्म के कारण 'मकरध्वज' पद कामदेव अर्थ में नियंत्रित हो गया है।

अन्य शब्द सन्निधि - देवस्य पुरारातेः (पुराराति देव का)।

किसी अन्य शब्द के सान्निध्य के कारण भी अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ में नियंत्रण होता है। ऊपर दिये गये उदाहरण में देव शब्द अनेकार्थक है परन्तु पुराराति (पुर नाम असुर का शत्रु) पद के सान्निध्य के कारण भगवान् शिव में नियंत्रित हो रहा है।

सामर्थ्य - मधुना मत्तः कोकिलः (मधु से मत्त कोयल)।

सामर्थ्य का अर्थ है - कारणता। सामर्थ्य के कारण भी अनेकार्थक पदों का एकार्थ में वाचकता होती है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रयुक्त 'मधु' शब्द के अनेक अर्थ हैं - पुष्परस, शहद, मद्य, वृक्ष, वसन्त, एक राक्षस और जीवित स्त्री। परन्तु कोयल वसन्त ऋतु में मदमस्त होती है। मधु के अनेक अर्थों में वसन्त में ही कोयल को मस्त करने की क्षमता है। इसलिए यहाँ 'मधु' शब्द वसन्त ऋतु के अर्थ में नियंत्रित हो रहा है।

औचिती - **पातु वो दयितामुखम्** (प्रिया का मुख तुम्हारी रक्षा करे)।

यहाँ पर मुख पद के कई अर्थ हैं - निस्सरण, आनन, प्रारम्भ, उपाय, नाटक की एक सन्धि, सम्मुख होना, अनुकूलता आदि। औचित्य के कारण ही यहाँ मुख पद का अर्थ आनन में निर्यत्रित हो गया है।

देश - **भात्यत्र परमेश्वर** (यहाँ परमेश्वर शोभित होते हैं।)

देश का तात्पर्य है – स्थान विशेष। स्थान विशेष के कारण भी अनेकार्थक शब्द एकार्थ में निर्यत्रित होते हैं। इस उदाहरण में 'अत्र' का अर्थ राजधानी है। 'अत्र' (राजधानी) के कारण परमेश्वर शब्द राजा के अर्थ में नियंत्रित हो गया है। यद्यपि इसके अर्थ होते हैं - विष्णु, शिव, देवता इत्यादि। इस उदाहरण में यदि 'अत्र' का अर्थ कैलाश होता तब परमेश्वर शब्द शिव के अर्थ में निर्यत्रित हो जाता।

काल - **चित्रभानुर्विभाति** (चित्रभानु चमक रहा है)।

चित्रभानु (विचित्र किरणों वाला/ विचित्र रंग की किरणों वाला) का अर्थ सूर्य और अग्नि दोनों होता है। उदाहरण वाक्य को यदि दिन में कहा जाए तब 'चित्रभानु' पद सूर्य में निर्यत्रित हो जाएगा तथा रात में कहे जाने पर अग्नि में। इस प्रकार काल के कारण अनेकार्थक पदों का एकार्थ में नियंत्रण होता है।

व्यक्ति - **मित्रं भाति** (मित्र शोभित हो रहा है)।

मित्रो भाति (सूर्य शोभित हो रहा है)

यहाँ व्यक्ति से तात्पर्य है – स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग। अनेक शब्द ऐसे होते हैं जो अलग-अलग लिङ्गों में अलग-अलग अर्थ के वाचक होते हैं। जैसे – मित्र शब्द पुल्लिङ्ग में होने पर सूर्य का वाचक होता है। इन उदाहरणों में 'मित्र' पद नपुंसक लिङ्ग में सुहृद तथा पुल्लिङ्ग में सूर्य के अर्थ में नियन्त्रित हुआ है। इस प्रकार लिङ्ग (व्यक्ति) आदि के कारण भी अनेकार्थक शब्द एकार्थ में निर्यत्रित होते हैं।

स्वर - यह वेद में ही एकार्थ निर्धारक होता है, काव्य में नहीं।

इनके अतिरिक्त अभिनय से अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ में नियंत्रण होता है। जैसे-

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः॥

इतने बड़े-बड़े स्तनों वाली, इतने बड़े-बड़े नेत्रों वाली, इतनी सी अवस्था वाली, (नायिका) इतने ही दिनों में (कैसी हो गई)। यहाँ नायक के विरह में किसी नायिका की दशा का वर्णन है। यहाँ पर प्रयुक्त 'एतावन्मात्र' का किसी अर्थ विशेष में नियन्त्रण अभिनय के द्वारा हो रहा है। हाथ के अभिनय से स्तनों के बड़े आकार तथा नेत्र के आकार को, अंगुलियों के अभिनय से नायिका की आयु तथा विरह के दिनों को प्रकट किया गया है। इस प्रकार अभिनय से भी शब्दों का एकार्थ में नियन्त्रण होता है।

संयोग, विप्रयोग आदि के द्वारा किसी एक अर्थ में शब्दों को निर्यत्रित कर देने पर उन्हीं शब्दों से कोई दूसरा अर्थ प्रस्फुटित होने लगे तब वह अर्थ अभिधा अथवा लक्षणा का विषय नहीं रह जाता है। अपितु वह व्यञ्जना का विषय होता है तथा उसको व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस प्रकार का व्यंग्यार्थ अभिधामूला होता है। जैसे-

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥

(काव्यप्रकाश 12)

इस पद्य के पदों के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ राजा के पक्ष में है, जबकि दूसरा अर्थ हाथी के पक्ष में है। चूँकि यह पद्य राजा की स्तुति में प्रस्तुत किया गया है इसलिए प्रकरण से राजा के पक्ष में इसका अर्थ निर्यत्रित हो जाता है तथा दूसरा अर्थ गज के पक्ष में व्यंग्य हो रहा है। यह दूसरा अर्थ अभिधामूला व्यञ्जना का परिणाम है। इसप्रकार शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकार की होती है -

1. अभिधामूला व्यञ्जना तथा 2. लक्षणामूला व्यञ्जना।

इसके अतिरिक्त वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य से जब सहृदय को किसी पद्य के वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है। तब उसको आर्थी व्यञ्जना कहते हैं-

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

काव्यप्रकाश-2.21-22

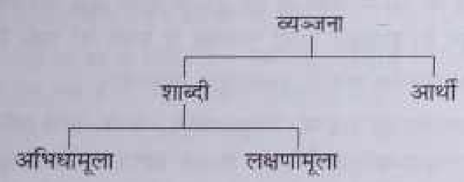
जैसे वक्ता की विशेषता से-

अति पृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिश्श्वासनिस्सहा विश्राम्यामि क्षणम्।।

अनुवादः- हे सखि अत्यन्त बड़े तथा जल से भरे हुए घड़ा को लेकर भागी चली आ रही हूं। परिश्रम के कारण पसीना के बूंद और निःश्वास असहनीय हो गये हैं। (इसलिए) क्षण भर विश्राम कर लेती हूँ।

यहाँ प्रथम अर्थ अभिधेयार्थ है। इन्हीं पदों से यहाँ तक एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो रही है-नायिका की चौर्यरति। यहाँ नायिका विश्राम करने के लिए जिन कारणों को बता रही है, उनसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह कुछ छुपा रही है। पसीना आना और श्वास का तेज चलना श्रम और रति दोनों का परिणाम है। परन्तु नायिका व्यभिचारिणी है। वक्ता की इस विशेषता के आधार पर सहृदय समझ जाता है कि वह अपने चौर्य रति को छुपा रही है। इस प्रकार इस पद्य में प्रयुक्त पदों से अभिधेयार्थ के साथ-साथ व्यंग्यार्थ की भी प्रतीति हो रही है तथा व्यंग्यार्थ ही प्रधान है। यहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति वक्तृ वैशिष्ट्य के कारण है। इसी प्रकार बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इनको आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। इस प्रकार व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है।

व्यञ्जना-भेद



3.4 तात्पर्यावृत्ति

शब्द-वृत्तियों के निरूपण प्रसंग में काव्यशास्त्र के कतिपय आचार्यों ने तात्पर्यावृत्ति की भी चर्चा की है। वस्तुतः तात्पर्यावृत्ति का विवेचन मीमांसा दर्शन में किया गया है। वहाँ मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के समान ही तात्पर्य को भी अर्थ माना गया है तथा इस अर्थ के ग्रहण के लिए तात्पर्या नामक वृत्ति को स्वीकार किया गया है। तात्पर्यार्थ ग्रहण के सम्बन्ध में वहाँ दो भिन्न मत मिलते हैं- 1. अभिहितान्वयवाद तथा 2. अन्विताभिधानवाद। प्रथम मत को मानने वाले आचार्यों में कुमारिल भट्ट तथा पार्थसारथि मिश्र

का नाम प्रसिद्ध है। द्वितीय मत अन्विताभिधानवाद के प्रवर्तकों में प्रभाकर गुरु और शालिकनाथ मिश्र प्रमुख हैं। प्रभाकर गुरु के नाम से इस मत को गुरुमत भी कहते हैं।

अभिहितान्वयवाद - इस मत के अनुसार वाक्य के तात्पर्यार्थ ग्रहण की प्रक्रिया निम्नवत् है -

1. वक्ता जब किसी वाक्य का प्रयोग करता है तब सर्वप्रथम अभिधा वृत्ति से वक्ता के वाक्य के प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अर्थ उपस्थित होता है। अभिधावृत्ति पद के पदार्थ को उपस्थित कर विरत हो जाती है।
2. इसके बाद पृथक्-पृथक् उपस्थित पदार्थों का तात्पर्या वृत्ति से अन्वय होता है।
3. अन्वित पदार्थों से वाक्य के अर्थ का बोध होता है। यह अर्थ ही तात्पर्यार्थ है तथा इसमें प्रयुक्त वृत्ति तात्पर्यावृत्ति है।

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले वाक्य के पदों का पदार्थ उपस्थित होता है, तदनन्तर उनमें अन्वय होकर तात्पर्य का ग्रहण होता है।

अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वयो भवतीति ये वदन्ति ते अभिहितान्वयवादिनः।

अन्विताभिधानवाद - इस मत के अनुसार वक्ता के वाक्य में प्रयुक्त पदों का अनन्वित अर्थ उपस्थित नहीं होता है। अपितु अन्वित अर्थ उपस्थित होता है तथा उनसे ही तात्पर्यार्थ का ग्रहण हो जाता है।

पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी।

अर्थात् - अभिधा वृति से वाक्य के पदों का अन्वित अर्थ उपस्थित होता है। उसी अर्थ में वक्ता का तात्पर्य होता है। इसका अभिप्राय है कि अभिधेयार्थ ही तात्पर्यार्थ होता है।

- वाच्य एव वाक्यार्थ इति।

इस प्रकार इस मत में तात्पर्या-वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। अभिधावृत्ति से ही वक्ता के अभिप्राय का ग्रहण हो जाता है। अभिधावृत्ति से केवल पदार्थ नहीं, अपितु अन्वित पदार्थ की उपस्थिति होती है। इस अन्वित पदार्थ में ही वक्ता का तात्पर्य होता है।

4
रस

दृश्य, श्रव्य तथा चम्पू सभी प्रकार के काव्यों के अनुशीलन का परम प्रयोजन आनन्दानुभूति है। इसी को काव्यानुभूति भी कहते हैं। परन्तु इसका वास्तविक नाम रस है। यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि सभी प्रकार के काव्यों से सहृदय को रसानुभूति होती है। रस को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है-

विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण:।
व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायीभावो रस: स्मृत:॥

काव्यप्रकाश, सूत्र 43

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से व्यक्त होकर स्थायी भाव रस कहलाता है।

इसका अभिप्राय है कि स्थायी भाव की सुखात्मिका अभिव्यक्ति का नाम रस है। यहाँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव व्याख्येय पद हैं। सर्वप्रथम भाव पर विचार करते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। आचार्य रुद्रट के अनुसार भाव एक अलंकार है। आचार्य भोज तथा वाग्भट प्रथम भी भाव को एक अलंकार मानते हैं। नायिका का एक अङ्गज अलंकार भी भाव है - **निर्विकारात्मके चित्ते भाव: प्रथमविक्रिया।** मन के विकार को भी भाव कहते हैं- **भावो मनसोविकार:।** काव्यार्थ (रस) को भावित करने वाले भाव हैं - **काव्यर्थान्भावयन्तीति भावा:।** कवि के अन्त:करण में विद्यमान भावों को भावित करने वाला भाव है। **कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते।** भाव रसों का भावन करते हैं अर्थात् सामाजिकों को रस का आस्वादन कराते हैं। **नानाभिनय संबंधान्भावयन्ति रसानिमान्। यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि:** अर्थात् कवि के

अन्त: करण में स्थित तथा काव्यार्थ रूप में परिणत एवं सामाजिकों द्वारा आस्वाद्य रस की अभिव्यक्ति कराने वाली सामग्री भाव है। इस प्रकार भाव का अर्थ है:- अलंकार, नायिका का अङ्गज अलंकार, मन का विकार तथा रस सामग्री। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सामग्री को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है - 1. स्थायी भाव 2. विभाव 3. अनुभाव तथा 4. व्यभिचारी भाव।

4.1 रस-सामग्री

स्थायी भाव:-प्रत्येक प्राणी के हृदय में वासना रूप में स्थिर रहने वाला भाव स्थायी भाव है। यही भाव विभावादि भावों से सम्पृक्त होकर रस रूप में आस्वाद्य होता है।

यह भाव रसास्वादन के प्रारम्भ से अन्त तक विद्यमान रहता है। यह चिर का स्थिर मनोविकार है। वस्तुत: जिसको हम रसास्वादन कहते हैं वह स्थायी भाव का ही आस्वादन है। वासना रूप में प्राणियों में स्थायी रूप से विराजमान वही भाव विभावादि भावों के संयोग से रस रूप में परिणत होता है - **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:।**

दशरूपककार के अनुसार स्थायी भाव विरोधी या शत्रु भाव के द्वारा न तो नष्ट होता है और न मित्रभाव उसको अपने में मिला सकता है। अपितु यह ही उनको आत्मसात् कर लेता है। यह अन्य भावों को उसी प्रकार आत्मीय बना लेता है, जिस प्रकार विभिन्न नदियों के जल को समुद्र अपने में मिला लेता है।

रसास्वाद के भेद से ही स्थायी भावों के भेद या संख्या निश्चित की जाती है। इस दृष्टि से भरत मुनि ने भावों की संख्या नौ निश्चित की थी - **अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मक: मोक्षप्रवर्तक:।** अर्थात् शृंगार रस का स्थायी भाव रति है, हास्य का हास, करुण का शोक, वीर का उत्साह, भयानक का भय, अद्‌भुत का विस्मय, बीभत्स का जुगुप्सा, रौद्र का क्रोध और शान्त का शम। परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इनके अतिरिक्त भी रसों की स्वीकृति देकर अन्य स्थायी भाव भी स्वीकार किये हैं।

विभाव : भरतनाट्यशास्त्र में विभाव का अर्थ विज्ञान बतलाया गया है - **विभावो विज्ञानार्थ:।** अभिनव भारती टीका में विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान है। अर्थात् जिनके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भाव विशिष्ट रूप से जाने जाते हैं, वे विभाव हैं। **वागादयोऽभिनया: येषां स्थायिव्यभिचारिणां ते**

वागाद्यभिनयसहिता विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते यैस्ते विभावाः। "विशिष्ट रूप से जाना जाता है" का तात्पर्य है -आस्वाद्य बनता है। विभाव ही रत्यादि स्थायी भावों को आस्वादन योग्य बनाता है। रसशास्त्र में इसको रस का कारण कहा गया है। सहृदय के चित्त में रत्यादि स्थायी भावों को उद्बुद्ध करना ही इसका कार्य है-

रत्याद्युद्बोधको लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।

विभाव दो प्रकार के हैं - आलम्बन और उद्दीपन। जिसका आश्रय लेकर स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है, वह आलम्बन विभाव है। जैसे शृंगार रस में नायक और नायिका को देखकर रति स्थायी भाव उद्बुद्ध हो जाता है। जैसे शृंगार रस में नायक नायिका आलम्बन विभाव हैं। उसी प्रकार अन्य रसों के भी आलम्बन विभाव होते हैं। आलम्बन विभाव का आश्रय लेकर उद्बुद्ध रत्यादि स्थायी भावों को तीव्र या तीव्रतर करने वाली परिस्थितियाँ, देश-काल, वस्तु, दृश्य इत्यादि उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। यथा-शृंगार रस के प्रसंग में रति-स्थायी भावों के जागृत हो जाने पर आलम्बन की चेष्टाएँ, चंद्रमा, चंद्रिका, उपवन, मन्द-समीर इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। इसी प्रकार प्रत्येक रस का उद्दीपन विभाव होता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रकृति तथा प्रकृति के उपादन आते हैं।

अनुभावः- नाट्यशास्त्र में कहा गया है - **अथानुभाव इति कस्मात्। उच्यते अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति** अर्थात् अनुभाव के द्वारा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं। अभिप्राय यह है कि विभाव से जिन रत्यादि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है, अनुभाव उनकी प्रतीति कराता है। इस प्रकार वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत होने वाली चेष्टाएँ एवं व्यापार ही अनुभाव है। श्रव्य-काव्य के संदर्भ में वाणी, अङ्ग एवं सत्त्व से युक्त चेष्टाएँ एवं व्यापार ही अनुभाव है।

परवर्ती आचार्यों ने अनुभावों को (वि) भाव के बाद होने वाला (**अनु पश्चात् भावो यस्य सोऽनुभावः**) कहा है। भावों के पश्चात् होने के कारण इसे भाव का कार्य भी कहा जाता है। इस मत के अनुसार यद्यपि विभाव रूप निमित्त से रस रूप कार्य का सम्पादन होता है परन्तु उनकी सम्पन्नता की सूचना चेष्टाओं से मिलती है। अतः इस निष्पत्ति के सूचक ये भाव कार्य हैं तथा विभाव के बाद उनकी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, अतः इन्हें अनुभाव कहा जाता है। रत्यादि स्थायी भावों का रस रूप में अनुभावक (प्रत्यायक) होने के कारण

भी इन्हें अनुभाव कहा जाता है। सम्भोगशृंगार में नायक-नायिका के नयनचातुर्य, भ्रूक्षेप, कटाक्ष, ललित एवं मधुर अङ्गहार तथा मधुर वाक्यादि अनुभाव हैं। प्रत्येक रस का अलग-अलग अनुभाव होता है।

व्यभिचारी भाव:- 'वि' और 'अभि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'चर्' धातु से निष्पन्न व्यभिचारी का अर्थ है, जो विविध प्रकार के रसों की ओर उन्मुख होकर सञ्चरणशील रहता है। **विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।** व्यभिचारी भाव वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों से रस की प्रतीति कराते हैं। **वाङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः।** इस प्रकार व्यभिचारी भाव रस के साथ अभिव्यक्त होते हैं, रस के साथ संचरणशील होते हैं तथा रस की अभिव्यक्ति की प्रतीति कराते हैं। व्यभिचारी भावों की संचरणशीलता के कारण इन्हें संचारी भाव भी कहा जाता है। आचार्य धनञ्जय ने स्थायीभाव एवं व्यभिचारी भाव के बीच सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए कहा है -

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥

दशरूपक 4.7

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र में लहरें जल के साथ उठती हैं तथा उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के साथ उद्बुद्ध होते हैं, स्थायी भाव में ही विलीन होते जाते हैं तथा स्थायी भाव की रस रूप में परिणति की सूचना देते हैं। अर्थात् इन्हें रस का सहकारी कारण भी कहा गया है। व्यभिचारी भावों की संख्या 33 बताई गई है। यद्यपि कुछ आचार्यों के अनुसार इनकी संख्या निर्धारित करना संभव नहीं है। ये 33 व्यभिचारी भाव हैं - **निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्थक, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।**

रस - ऊपर वर्णित भावों की समूहावलम्बनात्मक प्रतीति ही रस है। अर्थात् काव्य-पाठ अथवा नाट्य-दर्शन में ये चतुर्विध भाव उद्बुध हो जाते हैं तथा आस्वाद्यता को प्राप्त करते हैं। इन भावों की आस्वाद्यता ही रस है। रसास्वादन काल में यद्यपि इन चतुर्विध भावों की सत्ता रहती है, परन्तु इनकी मिश्रित प्रतीति

होती है, अलग-अलग नहीं। इस काल में ये भाव भाव न रहकर रस बन जाते हैं।

भावों की सत्ता और स्वरूप को 'पानकरसन्याय' से समझा जा सकता है। पान खाने वाले व्यक्ति को पान खाते समय जो स्वाद मिलता है, वह पान में डाले गये पदार्थों का पृथक्-पृथक् स्वाद नहीं होता है। अपितु उन पदार्थों के स्वाद के मिश्रण से एक अलग ही स्वाद की चर्वणा होती है। वह स्वाद पदार्थ के स्वाद से विलक्षण तथा अखण्ड होता है। काव्य पाठ अथवा नाट्य दर्शन में विभावादियों के परस्पर मिश्रण से उनके पृथक्-पृथक् आस्वादन से भिन्न विलक्षण तथा अखण्ड समूहावलम्बनात्मक रस चर्वणा होती है। यही रस की समूहावलम्बनात्मक प्रतीति है।

4.2 रससूत्र

विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

भरत मुनि प्रणीत इस रस सूत्र की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है जिनमें भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की व्याख्या प्रसिद्ध है।

4.2.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

अनुवाद - ललना (नायक - नायिका रूप) आलम्बन तथा उद्यानादि उद्दीपन विभाव रूप कारणों से रति आदि भाव उत्पन्न हुआ। कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभाव रूप कार्यों से (रत्यादि भाव) प्रतीति के योग्य बनाया गया, निर्वेदादि व्यभिचारी भावरूप सहकारियों से उपचित (पुष्ट) किया गया, मुख्यरूप से अनुकार्य रूप रामादि में तथा उनके स्वरूप का अनुसंधान करने से नट में प्रतीयमान रस कहलाता है। यह भट्टलोल्लट आदि का मत है।

विमर्श - इस प्रकार आचार्य भट्टलोल्लट के अनुसार विभावों से रस उत्पन्न होता है, अनुभावों से प्रतीति योग्य बनता है तथा व्यभिचारी भावों से पुष्ट होता है। मुख्य रूप से यह अनुकार्य रामादि में प्रतीयमान होता है परन्तु अनुकार्य का अनुसन्धान करने के कारण नट में भी प्रतीत होता है।

श्री भट्टलोल्लट के मत की मुख्य बातें-

1. विभाव रस निष्पत्ति का कारण है।
2. अनुभाव रस की प्रतीति का हेतु है।
3. व्यभिचारी भाव रस की प्रतीति को सम्पुष्ट करते हैं।
4. रस मुख्यत: अनुकार्य में रहता है तथा गौण रूप से नट में भी उसकी प्रतीति होती है।
5. रस सूत्र में प्रयुक्त निष्पत्ति पद के लिए भट्टलोल्लट ने उत्पत्ति (जनित:) प्रतीति (प्रतीतियोग्य: कृत:), पुष्टि (उपचिति) का प्रयोग किया है। इस आधार पर संयोग पद के तीन अर्थ हैं -
   i. उत्पाद्य-उत्पादक भाव
   ii. गम्य-गमक भाव
   iii. पोष्य-पोषक भाव

स्थायी भाव के साथ विभावों का उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध होने पर रस की उत्पत्ति होती है, अनुभावों का गम्यगमक भाव सम्बन्ध होने पर रस की प्रतीति होती है तथा व्यभिचारी भावों के साथ पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होने पर रस की पुष्टि होती है। रसोत्पत्ति का यही क्रम है - उत्पत्ति, प्रतीति तथा पुष्टि। आचार्य भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में रस-प्रक्रिया में सामाजिक का स्थान स्पष्ट नहीं है।

न्यूनता - अनुकार्य में रस की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। राम-सीता आदि अनुकार्य रसानुभुति के समय विद्यमान नहीं होते हैं। नाट्याभिनय के पूर्व भी उनकी विद्यमानता नहीं होती है। ऐसे अनुकार्य रामादि में रसोत्पत्ति कैसे हो सकती है। यदि मान भी लिया जाये कि रसोत्पत्ति रामादि अनुकार्य में होती है तो अविद्यमान अनुकार्य के रस का आस्वादन सामाजिक कैसे करेगा।

अनुकार्य में उत्पन्न रस का गौण रूप से अनुकर्ता में प्रतीति तर्क संगत नहीं। अनुकर्ता के द्वारा अनुकार्य का अनुकरण (अनुसंधान) असम्भव है। वस्तुत: नट कविनिबद्ध पात्रों की अवस्था का अभिनय करता है, मूल पात्र रामादि का नहीं। इस प्रकार भट्टलोल्लट की व्याख्या में अनेक न्यूनताएँ है।

4.2.2 श्री शंकुक का अनुमितिवाद

राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च

सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे -

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलात् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

अनुवाद - यह राम ही है (अथवा) यह ही राम है (सम्यक् प्रतीति) 'यह राम नहीं है' इस उत्तराकालिक बाध होने पर यह राम है (मिथ्या प्रतीति), यह राम है या नहीं है (संशय प्रतीति), यह राम के समान है (सादृश्य प्रतीति) इस प्रकार की सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य प्रतीतियों से विलक्षण चित्रतुरगन्याय से 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति से ग्राह्य नट में:-

यह वह मेरे अंगों में सुधारस की शोभा, नेत्रों में सुन्दर कर्पूर की शलाका और मन के लिए शरीरधारिणी मनोरथश्री प्राणेश्वरी दिखलायी दे रही है।

भाग्यवश आज मैं उस चपल और बड़ी-बड़ी आँखों वाली से वियुक्त हुआ और निरन्तर उमड़ते हुए बादलों वाला यह समय उपस्थित हो गया।

इत्यादि काव्य के अनुसन्धान बल (अनुशीलन) से तथा शिक्षा और अभ्यास से सम्पन्न किये हुए अपने कार्य को प्रकट करने से और नट के द्वारा ही प्रकाशित किये जानेवाले कृत्रिम होने पर भी वैसा (कृत्रिम) न माने जाने वाले विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भाव (विभावादि) पदों से व्यवहृत होने वाले कारण, कार्य और सहकारियों के साथ गम्यगमक भाव संयोग से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वादन का विषय होने से अन्य अनुमीयमान (अर्थों) से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदिभाव वहाँ (नट में) न रहने पर भी सामाजिकों की वासना के द्वारा आस्वादित होता हुआ रस कहलाता है। यह श्रीशंकुक का मत है।

विमर्श - श्रीशंकुक रस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' पद का अर्थ गम्यगमक भाव सम्बन्ध करते हैं - **संयोगात् गम्यगमकभावरूपात्।** वे 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमान करते हैं - **अनुमीयमानः।** इस प्रकार स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का गम्यगमक भाव सम्बन्ध होने पर रस का अनुमान होता है। रस अनुमान का विषय है तथा विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव अनुमान की सामग्री हैं। इन विभावादि सामग्रियों के साथ जब स्थायीभाव का अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध होता है तब सहृदय रस का अनुमान करता है। रस का अनुमान अन्य अनुमेय वस्तुओं से भिन्न है। श्रीशंकुक के अनुसार वस्तुसौन्दर्य से युक्त तथा आस्वाद्य होने के कारण अनुमेय रस अन्य अनुमेय पदार्थों से विलक्षण होता है।

वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीययमानविलक्षणः।

सहृदय रस का अनुमान कहाँ करता है ? श्रीशंकुक के अनुसार सामाजिक रस का अनुमान नट में करता है। वस्तुतः रस रूप में आस्वादित होने वाले रत्यादि स्थायी भाव नट में नहीं होते हैं परन्तु सामाजिक अपनी वासना के बल से नट में ही रस का आस्वादन करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि रस रूप में आस्वाद्य रत्यादि स्थायी भाव सामाजिक अथवा नट के नहीं होते हैं अपितु रामादि अनुकार्य के होते हैं।

प्रश्न - सामाजिक नट में अविद्यमान रत्यादि स्थायी भाव का रस रूप में आस्वादन कैसे करता है?

उत्तर - श्रीशंकुक के अनुसार नट काव्य का अनुसन्धान करके तथा अभ्यास और शिक्षा का आश्रय लेकर काव्यगत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को अत्यन्त निपुणता से सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत करता है। नट द्वारा प्रस्तूयमान विभावादि उसके अपने नहीं होते हैं, अपितु काव्यगत होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा से अपने काव्य में विभावादियों का मनोरम वर्णन करता है। अभ्यास और शिक्षा से नट उन्हीं विभावादियों को सामाजिकों के समक्ष प्रकट करता है। इस प्रकार नट के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले विभावादि कृत्रिम होते हैं, परन्तु कृत्रिम जैसे लगते नहीं है। इन्हीं विभावादियों का अनुकार्य गत स्थायी भाव के साथ अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध होने पर सामाजिक नट में ही रस का अनुमान करके रस का आस्वादन करने लगता है। श्रीशंकुक के अनुसार यही रस के अनुमान की प्रक्रिया है। इसीलिए इस मत को अनुमितिवाद कहते हैं। अनुमान में जो प्रतीति होती है, वह चार प्रकार की होती है -

1. सम्यक् प्रतीति
2. मिथ्या प्रतीति
3. संशय प्रतीति
4. सादृश्य प्रतीति

सम्यक् प्रतीति में वस्तु का सही ज्ञान होता है। किसी ने अपने पड़ोस के किसी बच्चे को देखा और उसको पहचान लिया। यह सम्यक् प्रतीति हुई। श्रीशंकुक इसका उदाहरण देते हैं - **राम एवायम् अयमेव राम इति।** यह राम ही है अथवा यह ही राम है। इस प्रकार ही दृढ़ निश्चयात्मक प्रतीति को सम्यक् प्रतीति कहते हैं। इसमें दृढ़ निश्चयात्मकता को प्रकट करने के लिए एव (ही) पद का प्रयोग किया जाता है।

शास्त्र में 'एव' शब्द के तीन अर्थ बताए गए हैं- अयोगव्यवच्छेदक, अन्ययोगव्यवच्छेदक तथा अत्यन्त योगव्यवच्छेदक -

अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति: धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मत:॥

'एव' पद का प्रयोग जब विशेषण के साथ होता है तब वह अयोगव्यवच्छेदक का वाचक होता है। विशेष्य के साथ प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ - अन्ययोगव्यवच्छेदक है यथा 'राम एवायम्' (यह राम ही है) में 'राम' पद विशेषण है तथा 'एव' का प्रयोग इसी पद के साथ किया गया है। यहाँ 'एव' पद अयोगव्यवच्छेदक है। इसका तात्पर्य है कि यहाँ जिस व्यक्ति की पहचान की जा रही है, वह राम के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

दूसरे वाक्य में 'अयमेव राम:' (यह ही राम है) में 'एव' का प्रयोग विशेष्य 'अयं' (यह) के साथ किया गया है। यहाँ पर यह अन्ययोग व्यवच्छेदक है। इस प्रकार 'अयमेव राम:' का तात्पर्य है - जिस व्यक्ति को देखा जा रहा है, वह ही राम है। उससे भिन्न कोई राम नहीं है।

ये दोनों उदाहरण सम्यक् प्रतीति के हैं। सम्यक् प्रतीति में किसी प्रकार के संशय या भ्रम का स्थान नहीं होता है। जब नट रामादि मूल पात्रों का अभिनय करता है तब नट में प्रतीत होने वाले रामादि की सम्यक् प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि नट वास्तविक रामादि नहीं होता है।

(2) मिथ्या प्रतीति - मिथ्या प्रतीति की दो शर्तें हैं :-

(क) किसी व्यक्ति या वस्तु में उस व्यक्ति या वस्तु की प्रतीति होना जो वह नहीं है।

(ख) उत्तरकालिक बाध अर्थात् थोड़ी देर बाद ज्ञात हो जाना कि उसको जो हमने समझा वह वह नहीं है। जैसे-किसी ने कौआ को कोयल समझ लिया। कुछ देर या कुछ दिन बाद पता चला कि वह कौआ था। यह मिथ्या प्रतीति है। क्योंकि थोड़े समय बाद इस प्रतीति का बाध हो जाता है अर्थात् पता चल जाता है कि यह कोयल नहीं कौआ है। ऐसी प्रतीति को मिथ्या प्रतीति कहते हैं।

श्री शंकुक मिथ्या प्रतीति का उदाहरण देते हैं -

न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयम्। किसी को देखकर किसी ने कहा कि यह राम है परन्तु थोड़े समय बाद ही उसको ज्ञात हो गया कि यह राम नहीं है।

अभिनय के समय रामादि के रूप में नट को देखकर सामाजिक को मिथ्या प्रतीति भी नहीं होती है। यदि रसास्वादन काल में सामाजिकों की प्रतीति को मिथ्या मान ले तो एक काल में नट में रामादि की प्रतीति होगी तथा उत्तर काल में नट में रामादि की प्रतीति का बाध हो जाएगा। ऐसे में रसास्वादन खण्डित हो जाएगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। रसास्वादन को अखण्ड माना गया है। इसलिए नट में रामादि की प्रतीति को मिथ्या प्रतीति भी नहीं कह सकते हैं।

(ग) संशय प्रतीति - किसी वस्तु को देखकर यह कहना कि यह वस्तु यह है या नहीं है; संशय प्रतीति है। जैसे नीलगाय को देखकर कहना कि यह नीलगाय है या नहीं है। श्रीशंकुक उदाहरण देते हैं - **राम: स्याद्वा न वाऽयमिति।** अर्थात् यह राम है या नहीं।

रसास्वादन काल में रामादि रूप में नट को देखकर सहृदय को संशय प्रतीति भी नहीं होती है। यदि नट में संशय प्रतीति को मान ले तो सामाजिक नट में संशय ही करता रह जाएगा। वह सोचता रह जायेगा कि यह नट रामादि है या नहीं। ऐसे में रसास्वादन का आनन्द नहीं ले पायेगा।

(घ) सादृश्य प्रतीति - नीलगाय को देखकर यह कहना कि यह गाय के सादृश्य है। इस प्रकार की प्रतीति सादृश्य प्रतीति कहलाती है। **'रामसदृशोऽयं'** (यह राम जैसा है)। यह सादृश्य प्रतीति का उदाहरण है।

काव्यगत प्रतीति को सादृश्य प्रतीति भी नहीं कह सकते हैं। इसलिए श्रीशंकुक चित्रतुरगन्याय के माध्यम से समझाते हैं।

चित्रतुरगन्याय - चित्रस्थ घोड़े को देखकर यह घोड़ा है; ऐसा समझना चित्रतुरग न्याय है। वस्तुत: बालक चित्रस्थ घोड़े को देखकर उसको वास्तविक घोड़ा समझने लगता है। यहाँ से चित्रतुरग न्याय की संकल्पना आई। चित्रस्थ घोड़े की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य प्रतीति से भिन्न होती है।

आचार्य श्री शंकुक के अनुसार नट में रामादि मूल पात्रों की प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य प्रतीति से भिन्न है। यह प्रतीति अन्य प्रतीतियों से विलक्षण होती है। इस प्रतीति को समझाने के लिए ही चित्रतुरग न्याय दिया गया है। चित्रस्थ घोड़े के समान सामाजिकों को नट में रस की प्रतीति होती है। शंकुक स्पष्ट कहते हैं कि नट जिस विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का अभिनय करता है, वह उसका अपना नहीं होता है। वह कृत्रिम होता है। कहने का तात्पर्य है कि कवि अपने काव्यों में जिन विभावादियों का वर्णन करता है, नट उन्हीं विभावादियों का अभिनय करता है। इस प्रकार वे विभावादि कृत्रिम होते हैं।

परन्तु काव्यानुसंधान (अनुकरण), शिक्षा और अभ्यास से नट उन विभावादियों को इस प्रकार से सिद्ध कर लेता है कि अभिनय किये जाने पर सहृदय उन विभावादियों से नट में रस का अनुमान करने लगता तथा उसको रस की चर्वणा होने लगती है। इस प्रतीति की यही विलक्षणता है। नट में रस की प्रतीति चित्रस्थ अश्व के समान होती है।

श्रीशंकुक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि रस का अनुमान होता है - **गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानः**। उनकी रसोत्पत्ति की प्रक्रिया न्यायदर्शन के अनुमान की प्रक्रिया पर आधारित है, अभिनवभारती में अभिनव गुप्त ने श्रीशंकुक के मत को उपस्थापित करते हुए कहा है - **लिङ्गबलात् प्रतीयमानः स्थायीभावः**। इसीलिए श्रीशंकुकन्यायमतानुयायी तथा उनके रस-निष्पत्ति विषयक मत को अनुमितिवाद कहा जाता है। इन्होंने भरत रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' पद का अर्थ गम्य-गमक भाव या अनुमाप्य अनुमापक भाव किया है तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति किया है।

इस प्रकार इनके मत में रस-सूत्र का तात्पर्य है स्थायीभाव के साथ विभाव - अनुभाव - व्यभिचारी भावों का गम्य-गमक भाव सम्बन्ध होने पर रस की

अनुमिति होती है। परन्तु रस की अनुमिति की इस प्रक्रिया में एक समस्या है। सामान्यत: अनुमान प्रमाण से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस मत में यद्यपि रस का अनुमान होता है, परन्तु सहृदय उसका साक्षात्कार करता है। यह अनुमान सिद्धान्त के विपरीत है। श्रीशंकुक इस समस्या से परिचित हैं। इसीलिए वे इस अनुमान को अन्य अनुमानों से विलक्षण कहते हैं - **अन्यानुमीयमानविलक्षणः**। इसकी विलक्षणता यह है कि वस्तु-सौन्दर्य के बल से और सामाजिकों की वासना के कारण यह आस्वाद्य हो जाता है जो प्रत्यक्ष का विषय होता है।

श्रीशंकुक के सिद्धान्त के मुख्य बिन्दु

1. सामाजिक नट में रस का अनुमान करता है। रस अनुमेय है।
2. रस का अनुमान अन्य अनुमानों से विलक्षण है। इसका साक्षात् आस्वादन होता है। इनका अनुमान चित्र-तुरगन्याय पर आधारित है।
3. नट जिन विभावादि का अभिनय करता है वह उसका अपना नहीं होता है। वह मूल अनुकार्य रामादि का होता है।
4. नट में विद्यमान विभावादि का आस्वादन सहृदय दो कारणों से करता है। काव्यानुसंधान, शिक्षा और अभ्यास से नट अपने में विद्यमान विभावादि का अभिनय ऐसे करता है जैसे वह उसका अपना ही हो। 2. सहृदय की वासना से नट में विभावादियों का आस्वादन होने लगता है।
5. रस सूत्र में प्रयुक्त संयोगात् पद का अर्थ है - गम्यगमकभावसम्बन्धात् तथा निष्पत्ति का अर्थ है - अनुमिति।
6. रस मूल रूप से राम-सीतादि अनुकार्य में रहता है, परन्तु सहृदय नट में उसका अनुमान करके आस्वादन करता है। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया से सामाजिक का स्थान गौण है।
7. श्रीशंकुक का अनुमान प्रत्यक्ष के समान है।

न्यूनता

1. श्रीशंकुक नट द्वारा अभिनेय विभावादियों को कृत्रिम मानते हैं। परन्तु कृत्रिम विभावादि से स्वाभाविक रसानुभूति नहीं हो सकती है। ऐसे में रसानुभूति को कृत्रिम मानना पड़ेगा जो महान अनर्थकारी होगा।

2. श्रीशंकुक के अनुसार रसानुभूति अनुमान का विषय है। परन्तु अनुमान परोक्ष का विषय होता है। ऐसे में परोक्ष रस का आस्वादन असम्भव है।
3. प्रत्यक्ष ज्ञान में जो आनन्द प्राप्त होता है वह परोक्ष ज्ञान में नहीं मिलता है। रस तो ब्रह्मस्वादसहोदर है। वह परोक्ष (अनुमान) का विषय कैसे हो सकता है।
4. श्रीशंकुक स्थायीभाव की स्थिति अनुकार्य में मानते हैं तथा रसास्वादन सहृदय में मानते हैं। यह मान्यता असंगत है।
5. नट अनुकार्य गत विभावादि का अनुकरण करता है। अनुकरण उसी का होता है जो सामने हो या जो जीवित हो। नट ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं का अनुकरण कैसे कर सकता है।
6. श्रीशंकुक प्रस्तुत चित्रतुरगन्याय रस की प्रतीति की सही व्याख्या करने में असमर्थ हैं।
7. श्रीशंकुक रसानुभूति की प्रक्रिया को सामाजिकों के साथ जोड़ने का प्रयास करते हैं और असफल रहते हैं। वे मानते हैं कि रस की चर्वणा सामाजिक करता है। परन्तु रस को नट में अनुमेय मानते हैं। अनुमेय वस्तु का आस्वादन कैसे हो सकता है ? इनका यह सिद्धान्त इस समस्या का समाधान नहीं कर पाता है।

4.2.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

अनुवाद - न तटस्थ रूप से और न आत्मगत रूप से रस प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त होता है, अपितु काव्य और नाट्य में अभिधा से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक दूसरे व्यापार से भाव्यमान स्थायी भाव सत्त्व के उद्रेक से प्रकाशानन्दमय चेतना (संवित्) की विश्रान्तिरूप भोग के द्वारा भोगा जाता है। यह भट्टनायक का मत है।

विमर्श - रस न तटस्थ रूप से और न ही आत्मगत रूप से प्रतीत होता है। यह न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः काव्य और

नाट्य में अभिधा तथा लक्षणा वृत्तियों से भिन्न भावकत्व नामक एक दूसरी वृत्ति कार्य करती है। यह वृत्ति विभावादियों का साधारणीकरण का कार्य करती है। इस वृत्ति से स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार भट्टनायक के मत में इस सूत्र में प्रयुक्त संयोग पद का अर्थ भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है। इस मत के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध से रस का भोग (भुक्ति) किया जाता है। रस की भुक्ति के कारण यह मत भुक्तिवाद के नाम से जाना जाता है।

विद्वानों का मानना है कि भट्टनायक का भुक्तिवाद सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों पर आधारित है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। प्रकृति सत्त्व, तमस् और रजस् इन तीनों गुणों से युक्त होती है। सत्त्व गुण का उद्रेक होने पर आनन्द, तमस् का उद्रेक होने पर दुःख और रजस् का उद्रेक होने पर विषाद की प्राप्ति होती है। इसलिए सांख्य दर्शन में सत्त्व के उद्रेक को सर्वोपरि कहा गया है।

भुक्तिवाद में भोजकत्व व्यापार सामाजिकों के अन्तःकरण को सत्त्व के उद्रेक से प्रकाशमय तथा आनन्दमय बना देता है। इस अवस्था में आने पर ही सामाजिक रस का भोग कर पाता है। इस प्रकार भुक्तिवाद में सांख्य दर्शन के सत्त्वोद्रेक का विशेष महत्त्व है।

1. भट्टनायक ने दो नए व्यापारों की उद्भावना की -भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार। परन्तु इन दोनों व्यापारों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। इनका कोई शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त के अनुसार भावकत्व और भोजकत्व व्यापार लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों से भिन्न नहीं है।
2. इसमें स्थायीभाव का भोग किया जाता है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ये स्थायी भाव किसके होते हैं - नट के या सामाजिक के।
3. भट्टनायक रस की प्रतीति नहीं मानते हैं। इस पर अभिनवगुप्त का कहना है कि काव्य और नाट्य में रसास्वादन होता है। ऐसे में रस की प्रतीति नहीं होती है, यह मानना ठीक नहीं है। सत्ता सिद्ध वस्तुओं की ही प्रतीति होती है। जिसकी प्रतीति नहीं होती है, उसकी सत्ता भी सिद्ध नहीं होती है। रस की ही प्रतीति न मानने पर उसकी सत्ता पर ही प्रश्न-चिह्न लग जाएगा। वस्तुतः इस सूत्र का मूल प्रश्न है - रस की प्रतीति कैसे होती है?

भाव का भी साधारणीकरण होता है। इसके बाद भोजकत्व व्यापार से स्थायी भाव का रस रूप में भोग किया जाता है। भोजकत्व व्यापार सत्त्व के उद्रेक से प्रकाशमय, आनन्दमय तथा संवित-विश्रान्ति स्वरूप वाला होता है। यह भट्टनायक का मत है।

भट्टनायक सर्वप्रथम अपने पूर्ववर्ती मतों का खण्डन करते हैं। भट्टलोल्लट ने रस की अवस्थिति अनुकार्य रामादि में माना है। श्रीशंकुक के अनुसार अनुकर्त्ता नट में रस की स्थिति होती है। भट्टनायक इन दोनों मतों के निरास के लिए ही कहते हैं – **न ताटस्थ्येन।** रसास्वादन में अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट दोनों ही तटस्थ होते हैं। अनुकार्य रामादि ऐतिहासिक पात्र होते हैं। रसास्वादन के काल में वे विद्यमान नहीं होते हैं। ऐसे में उनमें रस की स्थिति नहीं मान सकते हैं। अविद्यमान के भाव की कल्पना ही असम्भव है। अनुकर्ता नट में भी रस की सत्ता नहीं मान सकते हैं। यद्यपि नाट्य के मञ्चन के समय अनुकर्ता नट विद्यमान रहता है, परन्तु दूसरे के भाव का आस्वादन कैसे किया जा सकता है। दूसरे की नायिका को देखकर क्या किसी को आनन्द आता है। इससे तो ईर्ष्या, द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए सामाजिक अनुकर्तागत रस का आस्वादन नहीं करता है।

रस आत्मगत रूप से भी प्रतीत नहीं होता है। रस की आत्मगत प्रतीति का तात्पर्य है – रस सामाजिक में रहता है तथा सामाजिक अपने ही रस का आस्वादन करता है। भट्टनायक ऐसा नहीं मानते हैं। रस को आत्मगत मानने पर यह मानना पड़ेगा कि रसास्वादन के समय सामाजिक स्वयं को नायक-नायिका मानने लगता है तथा तद्गत रत्यादि भावों का आस्वादन करने लगता है। परन्तु यहाँ एक समस्या है। जब मूल नायक-नायिका राम-सीता आदि हों तब इन जगत्पूज्य नायक-नायिकाओं के रत्यादि भावों का आस्वादन कैसे सम्भव होगा? अर्थात् सहृदय माँ सीता को अपनी नायिका के रूप में कैसे देखेगा? उनकी रति का आस्वादन कैसे करेगा ?

रस को आत्मगत मानने पर काव्यों में वर्णित मनुष्यों के द्वारा असाध्य कार्यों से संगति नहीं बन पायेगी। काव्य या नाट्य में वर्णित समुद्र पर पुल बाँधना, एक बाण में समुद्र को क्षुब्ध कर देना आदि मनुष्यों से असाध्य कार्य हैं। काव्य में वर्णित इन कार्यों का कर्ता सामाजिक स्वयं को कैसे मान पायेगा?

रस को आत्मगत मानने पर काव्य में वर्णित नायक के शोक में सामाजिक

को शोकग्रस्त होना चाहिए, इसी प्रकार भय से भयभीत, क्रोध में क्रुध होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। सामाजिक काव्य में वर्णित प्रत्येक भाव में आनन्द की अनुभूति करता है। वह नायक-नायिका की प्रत्येक अवस्था में तन्मय होकर रसानुभूति करता है।

इस प्रकार रस की प्रतीति न ताटस्थ्य रूप से होती है और न ही आत्मगत रूप से (**न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते**)।

भट्टलोल्लट रस की उत्पत्ति तथा अभिनवगुप्त रस की अभिव्यक्ति मानते हैं। भट्टनायक इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जिन विभावादियों से रस की उत्पत्ति मानी गई है वे विभावादि वास्तविक नहीं होते हैं। अवास्तविक से किसी पदार्थान्तर की उत्पत्ति नहीं होती है।

रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होती है। अभिव्यक्ति उसी वस्तु की होती है, जो पहले से विद्यमान हो। जो पहले से विद्यमान नहीं होती है उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। रस अनुभूति रूप है। यह अनुभूति काल में विद्यमान होता है। अनुभूति से पूर्व और अनुभूति के पश्चात् रस की सत्ता नहीं रहती है। अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए प्रदीप से वस्तु प्रकाशन की उपमा दी जाती है। दीपक से वही वस्तु प्रकाशित होती है जो पहले से विद्यमान हो। अविद्यमान वस्तु को दीप प्रकाशित नहीं कर सकता है। रस की भी यही स्थिति है। अनुभूति पर्यन्त ही रस की सत्ता रहती है। इसलिए रस की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार रस न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है (**नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते**)

भट्टनायक रसानुभूति को भावकत्व और भोजकत्व व्यापार का परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार काव्य और नाट्य में अभिधादि से भिन्न भावकत्व और भोजकत्व वृत्ति कार्य करती है। भावकत्व वृत्ति अभिधादि वृत्तियों से उपस्थित काव्यार्थ को परिष्कृत कर सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देती है। अभिधादि वृत्तियों से उपस्थित काव्यार्थ या विभावादि किसी नायक-नायिका विशेष से सम्बन्धित होते हैं, जिसका दूसरों के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है।

भावकत्व व्यापार उनमें से व्यक्ति-विशेष के सम्बन्धों का परिहार कर उनको साधारणीकृत कर देता है। भावकत्व व्यापार से साधारणीकृत होने के

में वासना के रूप में स्थित होता है। सामाजिक जिन रत्यादि भावों का आस्वादन रस के रूप में करता है, वे भाव अनुकार्य अथवा अनुकर्ता के नहीं होते हैं, अपितु सामाजिक के होते हैं। रत्यादि भाव सामाजिक में वासना के रूप में विराजमान रहता है तथा विभावादियों से अभिव्यक्त होकर रस कहलाता है। यद्यपि रत्यादि स्थायी भाव सभी मनुष्यों में वासना के रूप में समान रूप में विद्यमान होता है परन्तु लौकिक रत्यादि भावों के अनुमान में पटु सहृदय ही काव्य या नाटक गत विभावादियों से स्थायीभाव का आस्वादन रस रूप में कर पाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त का मानना है कि लोक में निरन्तर अनेक प्रकार के भाव देखने को मिलते हैं। एक ही व्यक्ति में कभी क्रोध, कभी रति, कभी शोक, कभी भय, कभी उत्साह, कभी क्रोध आदि अनेक भाव देखने को मिलते हैं। इन सब भावों की चेष्टाएँ अलग-अलग होती हैं। रति में नयन-चातुर्य, भ्रूक्षेप, कटाक्ष-निरीक्षण आदि चेष्टाएँ देखने को मिलती हैं। शोक में प्रियजन के वियोग, विभव- नाश, वध, बन्धन आदि चेष्टाएँ देखने को मिलती हैं। इसी प्रकार अलग अलग भावों में अलग-अलग चेष्टाएँ होती हैं। इनके साथ ही कुछ सहकारी भी होते हैं। इन भावों, चेष्टाओं और सहकारियों को बार-बार देखकर सहृदय एक व्याप्ति बना लेता है- एतद्विषयक चेष्टा और सहकारी से एतद्विषयक भाव की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार सहृदय रत्यादि भावों के अनुमान में अभ्यासपटु हो जाता है। लौकिक रत्यादि भावों के कारण, कार्य और सहकारी काव्य या नाट्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। काव्यगत या नाट्यगत इन्हीं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से अभ्यासपटु सहृदय रत्यादि भावों का आस्वादन करने लगता है। आचार्य अभिनवगुप्त अभ्यासपटुता को सहृदय का अनिवार्य गुण मानते हैं। लौकिक कारणादि से प्रमदागत रत्यादि स्थायीभावों के अनुमान की निपुणता जब तक सहृदय में नहीं आती है, तब तक वह काव्यगत विभावादियों से रत्यादि भावों का रस रूप में आस्वादन करने में असमर्थ रहता है।

लौकिक कारणादि को काव्य में विभावादि कहे जाने का कारण देते हैं - **विभावादिव्यापारवत्त्वादलौकिक विभावादिशब्दव्यवहार्यैः।** लौकिक कारणादि कवि के द्वारा जब काव्य में वर्णित होता है तब उनमें एक विशेष सामर्थ्य आ जाता है। वह सामर्थ्य है - विभावना व्यापार। इस विभावना व्यापार के कारण

ही काव्य-नाट्यगत विभावादि जब अभिनीत होते हैं तब सहृदयों के अन्तःकरण में सूक्ष्मावस्था में अवस्थित रत्यादि भावों को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हें प्रतीति के योग्य बना देते हैं। इनमें कारण को काव्य में विभाव कहते हैं क्योंकि ये विभाव ही रत्यादि स्थायी भावों की प्रतीति के कारण होते हैं। लौकिक कार्य को काव्य में अनुभाव कहते हैं क्योंकि कटाक्षादि कार्यों से ही रत्यादि भावों की प्रतीति का ज्ञान होता है। इन्हीं से रत्यादि भावों की प्रतीति का अनुभव होता है। अतः ऐसे कटाक्षादि अनुभाव कहे जाते हैं। लौकिक सहकारी को काव्य में व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं। ये भाव संचरणशील होकर रत्यादि भावों को पुष्ट करते हैं।

लौकिक कारणादि से नाट्यगत विभावादियों की एक अन्य विशेषता है - उनकी अलौकिकता। विभावादियों का विभावन व्यापार अलौकिक है। यह सर्वविदित तथ्य है कि लोक में हर्ष, शोक, मोह, क्रोध, आदि के कारणों से हर्ष, शोक, मोह, क्रोधादि ही उत्पन्न होते हैं परन्तु काव्य या नाट्य में इन सभी कारणों से केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है। काव्य या नाट्य में शोक के कारणों से दुःख के स्थान पर आनन्द की ही अनुभूति होती है। यही विभावादियों की अलौकिकता है।

प्रश्न - सामाजिक अपने अन्तः करण में अवस्थित रत्यादि भावों का आस्वादन कैसे कर सकता है ? यदि रत्यादि भाव सामाजिक के होते हैं तो सामाजिक अपनी रति का प्रदर्शन सबके सामने नहीं कर सकता है, और न ही दूसरों के साथ उसका आस्वादन कर सकता है, क्योंकि ऐसा करने पर उसको लज्जा की अनुभूति होगी। यदि रत्यादि भाव किसी और के हैं तब दूसरों की रति को देखकर आनन्द के स्थान पर द्वेष होगा। यदि रत्यादि भावों को तटस्थ (उदासीन) का माने तब सामाजिक उसके प्रति उदासीन हो जाएगा।

आचार्य अभिनवगुप्त इसी शंका के समाधान में लिखते हैं - **ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्ध विशेषस्वीकारपरिहार नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः।** इसका तात्पर्य है कि सामाजिक जब रत्यादि भावों का रस रूप में आस्वादन कर रहा होता है तब सम्बन्ध-विशेष के नियम का परिहार हो जाता है। अर्थात् संसार में किसी वस्तु के प्रति तीन प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं - 1. यह मेरा है 2. यह उसका है तथा 3. यह तटस्थ का है। रसास्वादन की प्रक्रिया में

इस त्रयविध सम्बन्धों को न तो स्वीकार किया जाता है और न ही अस्वीकार किया जाता है। ये मेरे ही हैं, ये शत्रु के ही हैं, ये तटस्थ के ही हैं, तथा ये न मेरे ही हैं, न शत्रु के ही हैं, न तटस्थ के ही हैं, इस प्रकार के नियम समाप्त हो जाते हैं तथा ये सामान्य रत्यादि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। इसी को साधारणीकरण कहते हैं।

सर्वप्रथम भट्टनायक साधारणीकरण की प्रक्रिया को रस के साथ जोड़ते हैं। अभिनवगुप्त उन्हीं से इस सिद्धान्त को ग्रहण करते हैं। साधारणीकरण में रत्यादि भाव व्यक्ति-विशेष के नहीं रह जाते हैं, अपितु साधारण के हो जाते हैं। यद्यपि ये भाव सामाजिकों के होते हैं। ये वासना रूप में सामाजिकों में विद्यमान होते हैं, परन्तु नाट्य या काव्य की प्रस्तुति के समय व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से अलग हो जाते हैं। सामाजिक ये मेरे हैं, ये शत्रु के हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये शत्रु के नहीं हैं, इस प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है। इसी को अभिनवगुप्त **विगलितपरिमितप्रमातृभाव** कहते हैं। यहाँ प्रमातृ शब्द का प्रयोग सामाजिक के लिए किया गया है - **प्रमाता सामाजिकः**। सामाजिक का भाव प्रमातृ भाव है। रत्यादि के प्रति सामाजिकों का सीमित भाव **परिमितप्रमातृभाव** है। जब तक सामाजिक रत्यादि भावों को अपना या पराया समझता है तब तक वह परिमित प्रमातृभाव में होता है। रत्यादि भावों के प्रति अपना या पराया की भावना के समाप्त होते ही वह **विगलितपरिमितप्रमातृभाव** वाला हो जाता है। परिमितप्रमातृभाव के विनष्ट होते ही सामाजिकों में वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता और अपरिमित भाव उदित हो जाते हैं। वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता का अर्थ है - अन्य (रस से भिन्न) जानने योग्य (वेद्य) वस्तुओं के सम्पर्क से रहित अर्थात् ज्ञान से रहित।

साधारणीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक रस के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं के ज्ञान से शून्य हो जाता है। इसी को **वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता** कहते हैं। इस अवस्था में ही सामाजिक में अपरिमित भाव उदित होता है। जिसके कारण वह व्यक्ति विशेष न रहकर सामान्य हो जाता है। उसकी व्यक्तिगत विशेषताएँ समाप्त हो जाती हैं तथा उसका सब कुछ सबका हो जाता है तथा कुछ भी किसी का नहीं रहता है। अपने में सबको देखता है तथा सब में एकात्मभाव का अनुभव करता है। अब वह समस्त सहृदयों के साथ समान रूप से रसास्वादन करता है। यही साधारणीकरण की प्रक्रिया है। इसी से सामाजिक रत्यादि भावों का रस रूप में आस्वादन करता है।

चूँकि रत्यादिभाव सामाजिकों के अन्तःकरण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है, इसीलिए वह सामाजिक से अभिन्न है। अपने से अभिन्न वस्तु को अलग से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु अभिन्न होने पर भी रत्यादि भाव आस्वाद का विषय बनाते हैं (**स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतः**)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि रत्यादि भाव और रस अलग-अलग वस्तुएँ हैं। जिस प्रकार से वेदान्त दर्शन में जीव और आत्मा में अभेद होने पर भी आत्मा को साक्षात्कार का विषय माना जाता है, उसी प्रकार रत्यादि भाव और रस में अभेद होने पर भी रसानुभूतिकाल में 'रस का आस्वादन हो रहा है' ऐसा कहा जाता है। परन्तु दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

चर्वणा ही उसका एक मात्र प्राण है अर्थात् आस्वादन के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। आस्वादन ही उसका एकमात्र स्वरूप है। (**चर्व्यमाणतैक प्राणः**)। इसका आस्वादन तभी तक होता है जबतक विभावादि विद्यमान होते हैं। विभावादि के विनष्ट होते ही रसास्वादन की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। रस तिरोभूत हो जाता है। इसका जीवन काल उतने ही समय का होता है, जितने देर तक विभावादि विद्यमान रहते हैं - **विभावादिजीवितावधिः**। रस की चर्वणा पानकरस न्याय से होती है। पान खाने वालों को ज्ञात है कि पान खाने पर एक विशिष्ट प्रकार के रस का आस्वादन होता है। पान खाने पर जिस रस का आस्वादन होता है, वह पान में डाले गये समस्त वस्तुओं के रस के सम्मिश्रण से बना होता है। पान में अनेक वस्तुएँ डाली जाती हैं - इलायची, कत्था, काली मिर्च, चूना, कपूर, शर्करा इत्यादि। पान खाते समय सभी वस्तुओं के रस के सम्मिश्रण से एक विशिष्ट रस का निर्माण हो जाता है। पान खाने वाला उस रस के आस्वादन से आनन्दित होता है। यद्यपि काव्य या नाट्य में आस्वादित होने वाला रस पानक रस से भी श्रेष्ठ होता है परन्तु रसास्वादन को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अभिनवगुप्त ने पानकरसन्याय का सिद्धान्त दिया है। काव्यास्वाद न केवल रत्यादि भाव का आस्वादन है, न ही विभाव का, न ही अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव का अपितु इन सबके सम्मिश्रण से इन सबसे विलक्षण तथा अलौकिक रस का आस्वादन होता है।

रसास्वादन काल में सहृदय की अवस्था क्या होती है? अभिनवगुप्त इसका उत्तर देते हैं -

पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्

सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्। अर्थात् रसास्वादन काल में सहृदय को ऐसा प्रतीत होता है, मानो विभावादि उसके समक्ष साक्षात् नृत्य कर रहे हों, उसके हृदय में प्रवेश कर रहे हों, समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग का आलिङ्गन कर रहे हों, अन्य समस्त वस्तुएँ तिरोहित हो रही हों और ब्रह्मस्वाद के समान उसका आस्वादन हो रहा हो। इन सबका तात्पर्य है कि रसानुभूति काल में सहृदय की समस्त इन्द्रियाएँ अपने-अपने व्यापार को त्याग कर एकोन्मुख हो जाती हैं। अर्थात् सहृदय अपनी समस्त इन्द्रियों से एकमात्र रस का अनुभव करता है। तत्क्षण सहृदय के लिए रस के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं रहता है। सभी वस्तुएँ तिरोहित-सी प्रतीत होती है। वह एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करने लगता है। अभिनवगुप्त इस आस्वादन को ब्रह्मस्वाद के (**ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्**) समान बतलाते हैं। वेदान्त दर्शन में ब्रह्मसाक्षात्कार को सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि बतलाया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रसास्वादन ब्रह्मानन्द स्वाद के समान होता है। जिस प्रकार वेदान्तियों को ब्रह्म-प्राप्ति के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता है। उसी प्रकार सामाजिक जिस क्षण में रसास्वादन में निमग्न रहता है, उस समय उसके लिए अन्य कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता है। वह वेद्यान्तर से सम्पर्कशून्य हो जाता है। उसके समस्त भाव विगलित हो जाते हैं तथा एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। आचार्य विश्वनाथ भी अभिनवगुप्त के समान रस को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहते हैं। रस और ब्रह्म में एक अन्तर है। रसास्वाद कालिक होता है अर्थात् काव्य या नाट्यगत विभावादियों से रसाभिव्यक्ति बार-बार होती है परन्तु एक बार ब्रह्म के प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति सदा ब्रह्ममय हो जाता है। रस में ऐसा नहीं होता है। जब-जब विभावादियों की प्रस्तुति होती है, तब-तब रसाभिव्यक्ति होती है तथा विभावादियों के तिरोहित होते ही रसाभिव्यक्ति भी बन्द हो जाती है।

इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त कृत रससूत्र की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार 'संयोग' का अर्थ व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है। उनके अनुसार रस सूत्र का अर्थ है - विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध होने पर रस की अभिव्यक्ति होती है। रस न उत्पन्न होता है, न अनुमित होता है, न भुक्त होता है अपितु अभिव्यक्त होता है। इसीलिए इनका रस सूत्र विषयक मत अभिव्यक्तिवाद कहलाता है।

4.3 रस की अलौकिकता

स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्? न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाण-ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्य-वसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादि-परामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्व-वल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

अनुवाद - विभावादि के विनष्ट हो जाने पर भी उसकी स्थिति सम्भव होने के कारण वह (रस) कार्य नहीं है। उसके पूर्वसिद्ध (सिद्ध) का असम्भव होने के कारण वह (रस) ज्ञाप्य भी नहीं है। अपितु विभावादि से व्यञ्जित चर्वणा के योग्य है।

कारक और ज्ञापक (हेतुओं) के अतिरिक्त कहाँ देखे जाते हैं ? कहीं नहीं देखे जाते हैं। यह अलौकिकत्व की सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं।

चर्वणा की उत्पत्ति (चर्वणानिष्पत्त्या) होने के कारण उपचार से उसकी उत्पत्ति होती है। (उपचार से) कार्य भी कहा जा सकता है। लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न तथा ताटस्थ्य (प्रमाणों के बिना) से होने वाले मित-योगि-ज्ञान तथा वेद्यान्तर स्पर्श से रहित स्वात्म मात्र में परिवशित, परिमित से भिन्न योगियों की संवेदना से विलक्षण, लोकोत्तर स्वसंवेदन का विषय है। इसीलिए ज्ञेय (प्रत्येय/ज्ञाप्य) भी कहा जा सकता है।

विभावादि के परामर्श (ज्ञान) की प्रधानता होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान उसका ग्राहक नहीं है। चर्व्यमाण अलौकिक आनन्दमय (रस) के स्वसंवेदनसिद्ध होने के कारण सविकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं है। उभयाभाव रूप (रस) का उभयात्मक (सविकल्पकत्व और निर्विकल्पकत्व) होना भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही प्रकट करता है, विरोध को नहीं। यह श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्त का मत है।

विमर्श - इन पंक्तियों में रस की अलौकिकता की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियाँ दी गई हैं -

1. रस कार्य नहीं है,
2. यह ज्ञाप्य नहीं है,
3. यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है,
4. यह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है,
5. यह सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है

रस कार्य नहीं है - इस संपूर्ण संसार में कार्य-कारण का सिद्धान्त कार्य करता है। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है तथा कारण के विनष्ट हो जाने पर भी कार्य विनष्ट नहीं होता है, अपितु विद्यमान रहता है। जैसे किसी कुम्हार के द्वारा बनाया गया घड़ा उसके मर जाने पर भी विद्यमान रहता है। परन्तु रस के साथ ऐसी बात नहीं है। रस को यदि कार्य माना जाए तो विभावादि उसके कारण हैं। परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि विभावादि कारणों के विनष्ट होते ही रस की विद्यमानता भी समाप्त हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि रस कार्य नहीं है। यदि यह कार्य होता तो अपने कारण विभावादि के विनष्ट होने पर भी इसकी सत्ता रहती। इसीलिए अचार्य मम्मट का कहना है - **विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्।**

रस ज्ञाप्य नहीं है - ज्ञाप्य पदार्थ वे होते हैं, जो ज्ञान के पूर्व और ज्ञान के बाद भी विद्यमान रहते हैं। जैसे - अंधेरे कमरे में पड़ा 'घट' दीपक के प्रकाश से ज्ञान का विषय बनता है। घट दीपक के प्रकाश में देखे जाने के पूर्व भी विद्यमान था तथा देखे जाने के बाद भी विद्यमान रहनेवाला है। इस प्रकार 'घट' ज्ञाप्य है। परन्तु रस न तो आस्वादन के पूर्व विद्यमान रहता है और न ही आस्वादन काल के बाद। इसलिए यह ज्ञाप्य भी नहीं है - **नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्।**

संसार की समस्त अनित्य वस्तुएँ या तो कार्य होती हैं या ज्ञाप्य होती हैं। ऐसे में रस को कार्य और ज्ञाप्य न मानने पर क्या माना जाए ? रस का कार्य और ज्ञाप्य की कोटि में न होना उसकी अलौकिकता की सिद्धि में भूषण स्वरूप है, दूषण स्वरूप नहीं है -**लौकिकत्वसिद्धिर्भूषणमेतद् न दूषणम्।**

परन्तु काव्यशास्त्र में रस को उत्पन्न या निष्पन्न कहा गया है। भरतमुनि

द्वारा रस-सूत्र में भी आया है - **'रसनिष्पत्तिः'**। इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि चर्वणा अर्थात् आस्वाद की उत्पत्ति होने से उपचारवश रस को भी उत्पन्न कहा गया है तथा इसको कार्य भी कहा जा सकता है परन्तु यह कार्य नहीं है।

रस प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है - संसार की समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों से ज्ञान का विषय बनती हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय ज्ञेय वस्तुएँ ही होती हैं। ज्ञेय वस्तुएँ वे होती हैं जो पहले से ही विद्यमान हो। विभावादि से अभिव्यञ्जित होने वाला रस पहले से विद्यमान नहीं होता है, इसलिए रस प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है।

योगियों को होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है-

1. मितयोगिज्ञान तथा 2. मितेतरयोगिज्ञान

मितयोगिज्ञान की परिभाषा है - प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान अर्थात् बिना किसी प्रमाण की सहायता के योगज सामर्थ्य से वस्तुओं का साक्षात् करना। यह ज्ञान युञ्जान नामक योगियों को अपरिपक्व समाधि में प्राप्त होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है।

मितेतरयोगिज्ञान वेद्यान्तरस्पर्शशून्य आत्मानुभूति मात्र है - **वेद्यान्तरसंस्पर्श-रहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिज्ञान।**

योगियों को यह ज्ञान परिपक्व समाधि में होता है। यह ज्ञान आत्मानुभूति मात्र होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता है।

रस की प्रतीति इन प्रतीतियों से भी भिन्न है। यह अलौकिक स्वसंवेदन का विषय है - **स्वसंवेदनगोचर इति।**

रस सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है। वस्तु जगत् के समस्त ज्ञान दो प्रकार के होते हैं - 1. सविकल्पक तथा 2. निर्विकल्पक। **नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्।** पदार्थ, पदार्थ का नाम, जाति आदि के सहित होने वाले ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। जैसे घट, पट इत्यादि। सविकल्पक ज्ञान ही शब्द प्रयोग और लोक व्यवहार का आधार होता है। रस अनुभूति का विषय है। शब्द-प्रयोग के आधार पर हम रस को स्वसंवेदता को नहीं जान सकते और न ही इसका आस्वादन कर सकते हैं। इसलिए यह सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।

नामरूपजात्यादिविशेषशून्यं ज्ञानं निर्विकल्पम् अर्थात् नाम, रूप, जाति

आदि विशेषणों से सहित ज्ञान निर्विकल्पक होता है। इसमें समस्त विशेषणों तथा आरोपों से रहित वस्तुमात्र का ज्ञान होता है। इसको समझाने के लिए **'बालमुकादिविज्ञानसदृशम्'** न्याय को प्रस्तुत किया जाता है।

छोटे बालक को जब कोई वस्तु दीखती है तब उसको वस्तुमात्र का ज्ञान होता है। वह उसके नाम, कार्य, विशेषता आदि को नहीं जान पाता है। जैसे - किसी बालक को पहली बार आम का फल दिखा। उस समय बालक को नाम, गुण, स्वाद आदि गुणों से रहित वस्तुमात्र का ज्ञान होता है। इसी ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं। बाद में वह धीरे-धीरे नाम, गुण, स्वाद आदि को भी जान जाता है। प्रत्येक ज्ञान प्रथम प्रतीति में निर्विकल्पक ही होता है तथा शब्द व्यवहार में आने पर वह सविकल्पक हो जाता है।

रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता है। रस की समूहालम्बनात्मक प्रतीति होती है। वस्तुतः रस विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्विक भावों की सामूहिक प्रतीति है। सामूहिक प्रतीति कभी भी निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। इस प्रकार रस सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान में से किसी से भी ग्राह्य नहीं है। यह रस की लोकोत्तरता को ही सिद्ध करता है। इस प्रकार रस समस्त लौकिक विषयों से भिन्न अलौकिक होता है।

5
अलंकार

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का विशेष महत्त्व है। अलंकारों की महत्ता के कारण ही इस शास्त्र का अपर नाम अलंकारशास्त्र भी है। इतना ही नहीं, अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थ का नामकरण अलंकारों को दृष्टि में रखकर किया है। आचार्य भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है। आचार्य रुय्यक ने तो अपने ग्रन्थ का नाम अलंकारसर्वस्व रखा है।

यद्यपि अलंकारों का प्रयोग ऋग्वेद से होता आ रहा है, परन्तु इसका शास्त्रीय विवेचन भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। वहाँ उपमा, रूपक, दीपक और यमक चार अलंकारों का वर्णन किया गया है। परन्तु कालान्तर में अलंकार के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। आचार्यों ने शताधिक अलंकारों का उन्मेष किया तथा लक्षण एवं उदाहरण के साथ उनका विवेचन किया। कुछ आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में अनेक तर्क दिये।

'अलंकरोतीत्यलंकार' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य को अलंकृत करने वाले होते हैं। जिस प्रकार से नूतन-वस्त्र एवं हार आदि आभूषणों से शरीर सुशोभित होता है, उसी प्रकार अलंकार से काव्य शोभित होता है। आचार्य भामह का मानना है कि जिस प्रकार आभूषण के अभाव में रमणी का सुन्दर मुख भी सुशोभित नहीं होता है, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य में सौन्दर्य का आधान नहीं होता है - **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।**

आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है - **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।** अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार जो धर्म काव्य-शरीर रूप शब्द और अर्थ को

उपकृत करता हो तथा कभी-कभी रस को भी उपकृत करता हो, वह हार आदि के समान अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार कहे जाते हैं -

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

काव्यप्रकाश 8.67

आचार्य मम्मट ने इस लक्षण में स्पष्ट किया है कि अलंकार वस्तुतः शब्द और अर्थ को उपकृत करते हैं। परन्तु इसी व्याज से वे कभी-कभी रस का भी उपकार करते हैं। यह हार आदि शारीरिक आभूषण के समान काव्य का बहिरंग तत्त्व है।

कविराज विश्वनाथ प्रदत्त अलंकार-लक्षण मम्मट के मत का ही समर्थन करता है कि -

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तिऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

साहित्यदर्पण 10.1

शोभा को अतिशायित करने वाले, रस भाव आदि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर हैं, वे अंगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलंकार होते हैं।

इस प्रकार अलंकार काव्य का शोभावर्धक तत्त्व है। यह शब्द और अर्थ पर आश्रित रहकर इनके सौन्दर्य को बढ़ाता है। इससे रस भी उपकृत होता है।

अलंकारों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है - 1. शब्दालंकार, 2. अर्थालंकार तथा 3. उभयालंकार। शब्द पर आश्रित रहनेवाला शब्दालंकार होता है जबकि अर्थ पर निर्भर रहने वाला अर्थालंकार होता है। जहाँ शब्द को उसके ही पर्यायवाची शब्द से स्थानापन्न कर देने पर अलंकारत्व नष्ट हो जाता है, वहाँ शब्दालंकार होता है। इसी को शब्दाश्रित कहते हैं। इसके विपरीत अपने ही पर्यायवाची शब्द से स्थानापन्न होने पर भी अलंकार का नष्ट न होना अर्थालंकार है। अर्थालंकार में अलंकारत्व अर्थाश्रित होता है, इसलिए शब्द के परिवर्तन मात्र से अलंकार के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का भेदक-तत्त्व शब्द-परिवृत्तिसहत्व है। शब्द एवं अर्थ दोनों पर आश्रित रहनेवाला उभयालंकार होता है। आचार्य मम्मट शब्दालंकारों की संख्या छः मानते हैं - 1. वक्रोक्ति, 2. अनुप्रास, 3. यमक 4. श्लेष, 5.

तथा 6. पुनरुक्तवदाभास। आचार्य विश्वनाथ इन छः के साथ भाषासम को शब्दालंकार मानते हैं।

अर्थालंकारों की संख्या बहुत अधिक है। आचार्य मम्मट ने 61 अर्थालंकारों का विवेचन किया है। आचार्य विश्वनाथ ने 76 अर्थालंकारों एवं दो उभयालंकारों का उदाहरण सहित लक्षण दिया है। परन्तु अलंकारों की संख्या सुनिश्चित नहीं है। आचार्यगण अपनी-अपनी प्रतिभा से नूतन अलंकारों का उन्मेष करते रहे हैं।

कुछ प्रमुख अर्थालंकार – उपमा, रूपक, संदेह, भ्रान्तिमान, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, समासोक्ति, स्वभावोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, परिसंख्या, परिकर आदि हैं।

उभयालंकार – संकर एवं संसृष्टि को उभयालंकार माना जाता है।

5.1 अनुप्रास

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। साहित्यदर्पण 10.3

अनुवाद – स्वर वर्णों में विषमता रहने पर भी शब्द के साम्य को अनुप्रास कहते हैं।

विमर्श – अनुप्रास अलंकार का सर्वाधिक स्पष्ट लक्षण आचार्य हेमचन्द्र ने दिया है – **व्यञ्जनस्यावृत्तिरनुप्रासः।**

व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास अलंकार कहते हैं। यहाँ व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति कहने का तात्पर्य है – अनुप्रास अलंकार में केवल व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति देखी जाती है, स्वर वर्णों की नहीं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अनुप्रास अलंकार का लक्षण है –

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वर वर्णों की विषमता होने पर भी शब्दों का सादृश्य अनुप्रास अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार स्वरमात्र की समानता से काव्य में किसी चमत्कार का आधान नहीं होता है – **स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्।**

आचार्य मम्मट कृत अनुप्रास अलंकार का लक्षण अत्यन्त सूक्ष्म है – **वर्णसाम्यमनुप्रासः।**

वर्णों की समानता अनुप्रास अलंकार है अर्थात् अनुप्रास अलंकार की परिभाषा है - **वर्णसाम्यम्।** इस परिभाषा की स्पष्टता के लिए मम्मट कृत वृत्ति को समझना होगा - **स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्।**

अर्थात् स्वरों में असमानता होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता वर्णसाम्य है। इस प्रकार का वर्णसाम्य ही अनुप्रास अलंकार कहलाता है।

अनुप्रास अलंकार की मुख्य बातें -

(1) स्वरों में समानता न होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता।

(2) व्यञ्जन वर्णों की समानता पद में भी हो सकती है और पदांश में भी।

(3) स्वरों की आवृत्ति से काव्य में कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं होता है इसलिए अनुप्रास अलंकार में इसका कोई महत्त्व नहीं है।

(4) यह सदा रस और भाव के अनुकूल होता है। रस के प्रतिकूल होते ही इसका अलंकारत्व क्षीण हो जाता है।

अनुप्रास अलंकार के प्रकार

अनुप्रास अलंकार को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है -

1. वर्णानुप्रास तथा 2. पदानुप्रास

वर्णों की आवृत्ति वर्णानुप्रास है। जब वर्णों की आवृत्ति एक बार होती है, तब उसको छेकानुप्रास कहते हैं। तथा वर्णों की अनेक बार आवृत्ति को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं। इस प्रकार वर्णानुप्रास दो प्रकार का है - (1) छेकानुप्रास तथा (2) वृत्त्यनुप्रास। पुनः वर्णों के स्वरूप के आधार पर वृत्त्यनुप्रास तीन प्रकार का है -

(1) उपनागरिका - माधुर्य व्यञ्जक वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होने पर उपनागरिका होती है।

(2) परुषा - ओज के प्रकाशक वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति परुषा है।

(3) कोमला - माधुर्य और ओज वर्णों से भिन्न वर्णों की दो या दो से अधिक बार आवृत्ति कोमला कहलाती है।

इन्हीं तीनों से बाद में क्रमशः वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी वृत्तियों का विकास हुआ।

पदानुप्रास या शब्दानुप्रास – इसमें पदों की आवृत्ति होती है। यहाँ पदों की आवृत्ति से तात्पर्य है – वाक्य में प्रयुक्त एक या अनेक पदों का एक या अनेक बार आवृत्ति। इस आवृत्ति में पदों के अर्थ में कोई भेद नहीं होता है परन्तु अन्वय भेद से वाक्यार्थ में भेद हो जाता है। लाट देश में अधिक प्रयुक्त होने के कारण आचार्यों ने इसको लाटानुप्रास भी कहा है। यह पाँच प्रकार का होता है -

(1) अनेकपदगत लाटानुप्रास

(2) एकपदगत लाटानुप्रास

(3) समासगत

(4) भिन्नसमासगत

(5) समासामासगत

यथा-

आदाय बकुलगन्धान्धीकुर्वन्पदे पदे भ्रमरान्।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः॥

बकुल (मौलीसिरी) के गन्ध को लेकर पद–पद में भ्रमरों को मदान्ध करता हुआ, कावेरी के जलकणों से युक्त पवित्र करने वाला यह पवन धीरे-धीरे चला आ रहा है।

यहाँ 'गन्धान्धी' पद में 'न' और 'ध' वर्ण की, 'कोवेरीवारि' में 'व' और 'र' वर्ण की तथा 'पावनः पवनः' में 'प', 'व' और 'न' वर्णों की आवृत्ति हो रही है। यहाँ अनुप्रास अलंकार है। इस पद्य में वर्णों की एक–एक वार आवृत्ति हुई है, इसलिए यह छेकानुप्रास है।

अन्य उदाहरण

1. सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
   प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.3
2. शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
   दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.15
3. कः पौरवे वसमुतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
   अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.21

4. मधुमदकला मधुकरा मदनार्ताभिः प्रियाभिरुपगूढाः।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः।। स्वप्नवासवदत्त 4/3

5. वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।। किरातार्जुनीय 1.13

5.2 यमक

आचार्य विश्वनाथ ने यमक अलंकार की परिभाषा दी है -

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।

साहित्यदर्पण 10

अनुवाद - यदि अर्थयुक्त हो तो भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं।

विमर्श - स्वर-व्यञ्जन समुदाय पद को कहते हैं अर्थात् पद स्वर और व्यञ्जन वर्णों का समुदाय होता है। यह सार्थक और निरर्थक दो प्रकार का होता है। परन्तु सार्थक स्वर-व्यञ्जन समूह को ही पद स्वीकार किया जाता है। पद की आवृत्ति यमक अलंकार है, यदि आवृत्ति होने वाले पद भिन्न-भिन्न अर्थ का सूचक हो या एक पद सार्थक हो और दूसरा पद निरर्थक हो या दोनों पद निरर्थक हो। यहाँ पद को निरर्थक कहने का तात्पर्य है कि सार्थक होते हुए निरर्थक होना। अर्थात् जिस प्रसंग में उसका प्रयोग किया गया है वहाँ [illegible] निरर्थक है। लक्षण में प्रयुक्त 'सत्यर्थे' पद का यही तात्पर्य है। '**क्रमेण तेनैव**' से यमक अलंकार में अनुप्रास के संशय का निराकरण किया गया है। अनुप्रास अलंकार में वर्णों की आवृत्ति में क्रम का कोई बन्धन नहीं होता है। परन्तु यमक में वर्णों की क्रमिक आवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा 'दमो-मोदः' में भी यमक अलंकार मानना पड़ेगा।

यमक के भेद

आचार्य मम्मट ने यमक के आठ भेदों का उल्लेख किया है -

1. संदंश यमक

2. युग्म यमक
3. महायमक
4. संदष्ट यमक
5. आद्यन्तिक यमक
6. आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक
7. पादगत (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में) आद्यन्तिक-अन्तादिक यमक तथा
8. अनियतस्थानवृत्ति यमक

यथा -

नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पंकजम्।
मृदुल-तान्त लतान्तमवलोकयत्सः सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।।

शिशुपालवध 6.2

जिसमें पलाशों (ढाकों) का वन नवीन पलाशों (पत्तों) से युक्त हो गया है और कमल बढ़े हुए पराग (पुष्पराज) से परागत (युक्त) हो गये हैं, पुष्पों की अधिकता से सुरभि (सुगन्धित) उस सुरभि (वसन्त ऋतु) को श्रीकृष्ण ने रैवतक पर्वत पर देखा।

इस पद्य में 'पलाश-पलाश' 'पराग-पराग', 'लतान्त-लतान्त' तथा 'सुरभिं-सुरभिं' में प्रयुक्त दोनों पद सार्थक हैं। प्रस्तुत प्रसंगवश लतान्त-लतान्त' में पहला पद निरर्थक है, क्योंकि वह पूर्व पद 'मृदुल' से मिला हुआ है। इसी प्रकार 'पराग-पराग' में दूसरा पद निरर्थक है, क्योंकि इसमें अग्रिम पद गत का 'ग' संयुक्त है। ऐसे पदों की आवृत्ति को पादवृत्ति यमक कहते हैं।

अन्य उदाहरण

1. वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती
कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ
विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।। किरातार्जुनीयम 1.36

2. सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय।। काव्यप्रकाश 9.362

3. सरस्वति! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति।
सर स्वति! कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति।। काव्यप्रकाश 9.367

4. अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न **वेद याम्।**
या च मातेव भजते प्रणते **मानवे दयाम्।** वही 9.365

5. यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम्।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम्।। वही 9.366

5.3 श्लेष

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। साहित्यदर्पण 10.11

अनुवाद - शिलष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेष अलंकार होता है।

विमर्श - यहाँ 'श्लिष्टैः' से तात्पर्य है - जुड़ जाना अर्थात् श्लेष में दो भिन्न-भिन्न अर्थवाले पद वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन के कारण जुड़ जाते हैं और एक (शिलष्ट) प्रतीत होते हैं। इसमें कवि के वर्णन चातुर्य के कारण पद होते तो दो हैं परन्तु दृष्टिगत एक ही होते हैं।

आचार्य मम्मट ने श्लेष अलंकार का लक्षण अधिक स्पष्टता से किया है-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः।
शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

जहाँ अर्थ भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चरित होने के कारण एक रूप प्रतीत होते हैं वह श्लेष अलंकार है।

यह श्लेष वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रत्यय विभक्ति और वचन भेद से आठ प्रकार का होता है।

मुख्य तथ्य

1. भिन्नार्थक शब्दों का पारस्परिक भेद की अप्रतीति श्लेष अलंकार है।
2. श्लेष अलंकार में दो शब्द जतुकाष्ठ न्याय से परस्पर इस प्रकार से मिल जाते हैं कि उनकी भिन्नता की प्रतीति नहीं होती है।
3. एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति का आभास होता है।

यथा- **प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।**
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि।।
साहित्यदर्पण पृ. 282

विधि (दैव) अथवा विधु (चन्द्रमा) के प्रतिकूल होने पर सब साधन विफल हो जाते हैं। गिरने (अस्त होने) के समय सूर्य के हजार कर (किरण या हाथों) भी सहारा देने में पर्याप्त न हो सके।

यहाँ 'विधौ' पद में 'विधि' और 'विधु' शब्दों के अन्तिम वर्ण (इकार और उकार) औकार (औ) के रूप में परिणत हो गये हैं। वस्तुतः 'विधि' और 'विधु' दोनों पदों का सप्तमी एकवचन में 'विधौ' रूप बनता है और उच्चारण सादृश्य के कारण दोनों पद एक प्रतीत होते हैं। अतः यहाँ दो वर्णों का श्लेष है। यहाँ 'विधि' पद से भाग्य और चन्द्रमा दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यहाँ श्लेष अलंकार है। वर्णों में श्लेष के कारण इसको वर्ण-श्लेष कहते हैं।

अन्य उदाहरण

1. गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतोः साधिके त्रिवर्गस्य।
मद्भवननीतिविद्ये कार्याचार्ये द्रुतमुपेहि। मुद्राराक्षस 1.5

2. कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम्।
सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि।। मुद्राराक्षस 1.19

3. पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया।
यदुद्गिरति भ्रमरः अन्येषां करोति तत्कार्यम्।। मुद्राराक्षस 2.11

4. अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.14

5. अभिनवमधुपलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर! विस्मृतोऽस्येनां कथम्।।
अभिज्ञानशाकुन्तल 5.1

5.4 उपमा

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। साहित्यदर्पण 10.14

अनुवाद- एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं।

विमर्श- यहाँ दो पदार्थ से तात्पर्य है- उपमान और उपमेय। उपमान और उपमेय उपमा अलंकार के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वस्तुतः उपमा अलंकार में दो वस्तुओं के मध्य समान धर्म (साधर्म्य) के द्वारा सादृश्य का कथन किया जाता है। जिन दो वस्तुओं के मध्य सादृश्य का कथन किया जाता है उनमें एक को उपमान और दूसरे को उपमेय कहते हैं। अधिक गुणवाला अथवा प्रसिद्ध पदार्थ उपमान होता है और कम गुणवाला अथवा अप्रसिद्ध पदार्थ उपमेय है। जैसे **चन्द्रमिव तस्य मुखं सुन्दरमस्ति।** (उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है)

यहाँ मुख और चन्द्रमा के बीच सादृश्य का कथन किया गया है। इसमें दो पदार्थ हैं - चन्द्रमा और मुख। इन दोनों में चन्द्रमा प्रसिद्ध पदार्थ है और मुख अप्रसिद्ध है। इसलिए चन्द्रमा उपमान है और मुख उपमेय।

मुख और चन्द्रमा के बीच जिस समानता की बात की जा रही है वह है - सौन्दर्य। सौन्दर्य में मुख चन्द्रमा के समान है। इसी को साधारण धर्म कहते हैं। अर्थात् जिस बात में उपमान और उपमेय समान बताये जा रहे हैं, उसको साधारण धर्म कहते हैं। इस प्रकार साधारण धर्म के आधार पर उपमान और उपमेय में सादृश्य का कथन उपमा अलंकार है।

उपमा अलंकार के अवयव - उपमा के चार अवयव होते हैं - उपमेय, उपमान, वाचक शब्द और साधारण धर्म।

उपमा सूचक शब्दों को वाचक शब्द कहते हैं। इव, वत्, वा, यथा, समान, तुल्य, सम, आदि उपमावाचक शब्द हैं। इनके प्रयोग से ही उपमान और उपमेय में सादृश्य की स्थापना की जाती है। जैसे - **'चन्द्रमिव तस्य मुखं सुन्दरम्'** में **'इव'** वाचक शब्द है। इव का अर्थ है - समान। इस वाचक शब्द के प्रयोग से ही चन्द्रमा और मुख में समानता व्यक्त हो रही है। वाचक शब्द सामान्यतया तुल्य अर्थ के प्रतिपादक होते हैं।

उपमा के भेद

आचार्य विश्वनाथ ने उपमा अलंकार के 27 भेदों का निर्धारण किया है -

1. पूर्णोपमा - 6 प्रकार (श्रौती-3, आर्थी-3)
2. लुप्तोपमा- 21प्रकार (धर्मलुप्ता-10, उपमानलुप्ता-2, वाचकलुप्ता-2, धर्मोपमानलुप्ता-2, धर्मवाचक लुप्ता-2, उपमेयलुप्ता -1, धर्मोपमेयलुप्ता-1, त्रिलुप्ता-1)

यथा-

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥

(हे सुन्दरी, तुम्हारे मुख का सौरभ (सुगन्ध) कमल जैसा है। तुम्हारे स्तन कुम्भ जैसा पीन है। शरद-ऋतु के चन्द्रमा के समान तुम्हारा वदन हृदय को प्रमत्त कर रहा है।)

यहाँ मुख के सौरभ की तुलना कमल से, स्तन की तुलना कुम्भ से तथा वदन की तुलना शरद-ऋतु के चन्द्रमा से की गई है। इस प्रकार यहाँ उपमा अलंकार है। यहाँ **'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य'** में कमल उपमान है , मुख उपमेय है, सौरभ साधारण धर्म है तथा वत् उपमावाचक शब्द है। इससे यह पूर्णोपमा का उदाहरण बन जाता है। इसी प्रकार इस पद्य के अन्य तीन चरणों में पूर्णोपमा अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
   एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.5
2. न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
   मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
   क्व वत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
   क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.10
3. इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
   स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।

वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.19

4. कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.17

5. शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम।। स्वप्नवासवदत्त 4/7

5.5 रूपक

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। -साहित्यदर्पण 10.28

अनुवाद - निरपह्न अर्थात् निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित (उपमान) के आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं।

विमर्श- इसका सीधा सा तात्पर्य है कि उपमेय में उपमान के आरोप का कथन या अभेद की स्थापना रूपक अलंकार है। उपमेय में उपमान का आरोप दो प्रकार से सम्भव है - (1) उपमेय का निषेध कर तथा (2) उपमेय का निषेध किये बिना। प्रथम स्थिति में अपह्नुति अलंकार होता है तथा द्वितीय स्थिति में रूपक अलंकार होता है।

इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने इस लक्षण में 'निरपह्नवे' पद का प्रयोग कर रूपक और अपह्नुति अलंकारों में समानता की शंका का निराकरण किया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होने वाले उपमान और उपमेय में अभेद का प्रदर्शन रूपक अलंकार है। यह अभेद वस्तुतः काल्पनिक होता है। उपमान और उपमेय दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं परन्तु काव्य में चमत्कार के सृजन के लिए कवि उपमेय को ही उपमान के रूप में वर्णित करता है। **यथा-तस्य मुखं चन्द्रः।** इस वाक्य में मुख और चन्द्रमा दो अलग-अलग पदार्थ हैं। यहाँ मुख उपमेय है और चन्द्रमा उपमान है। परन्तु मुख और चन्द्रमा में अतिशय साम्य को बताने के लिए काल्पनिक रूप से मुख को चन्द्रमा कहा गया है। इस प्रकार यहाँ मुख और चन्द्रमा काल्पनिक रूप से अभेद सिद्ध किया गया है। यह अभेद मुख पर चन्द्रमा के आरोप के कारण है। यही उपमेय पर उपमान का आरोप रूपक अलंकार को जन्म देता है।

रूपक के भेद - रूपक अलंकार तीन प्रकार का होता है -

1. परम्परित रूपक
2. साङ्ग रूपक
3. निरङ्ग रूपक

इनमें परम्परित रूपक के दो भेद हैं :-

1. श्लिष्ट - दो प्रकार (क) शुद्ध तथा (ख) माला
2. अश्लिष्ट - दो प्रकार (क) शुद्ध तथा (ख) माला

सांग रूपक के दो भेद-

1. समस्तवस्तुविषयक
2. एकदेशविवर्ति

निरङ्ग रूपक के दो भेद : 1. शुद्ध तथा 2. माला

इस प्रकार रूपक अलंकार के कुल 8 भेद हैं-



यथा -

आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे।
श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे।।

(हे नृसिंह महीपते रण में जगत के उद्दण्ड राजमण्डल (चन्द्रमण्डल रूप नृपमण्डल) के लिए राहु रूप तुम्हारे बाहु का कल्याण हो।)

इस पद्य में 'राज' पद चन्द्रमा और राजा दोनों का वाचक है तथा राजमण्डल पर चन्द्रमण्डल का आरोप है। इसी प्रकार बाहु पर राहु का आरोप है। राजमण्डल पर चन्द्रमण्डल और बाहु पर राहु का आरोप होने के कारण यहाँ रूपक अलंकार है। यहाँ राजमण्डल पर चन्द्र मण्डल के आरोप के कारण ही बाहु पर राहु का आरोप किया गया है। यहाँ वर्णनीय वस्तु राजमण्डल है।

राजमण्डल पर चन्द्रमण्डल का आरोप किया गया है। इस आरोप के कारण ही बाहु पर राहु का आरोप है। इसलिए यह परम्परित रूपक का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण

1. नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम्।
   अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे।। मुद्राराक्षस 1.9
2. उल्लंघयन् मम सुमुज्ज्वलतः प्रतापं
   कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः।
   सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः
   कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम्।। मुद्राराक्षस 1.10
3. अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
   आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.16
4. अनुमतगमना शकुन्तला
   तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
   परभृतविरुतं कलं यथा
   प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.10
5. शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः
   प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः।
   प्राणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
   परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधहदनम्।। मुद्राराक्षस 3.29

5.6 संदेह

संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। साहित्यदर्पण - 10.35

अनुवाद -प्रकृत (उपमेय) में अन्य (उपमान) के संशय को संदेहालंकार कहते हैं।

विमर्श- यह संशय प्रतिभा से उत्पन्न होना चाहिए। प्रतिभा से उत्पन्न संशय ही काव्य में चमत्कार का आधान करता है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने सशंय को प्रतिभोत्थित होने की शर्त रख दी है।

संदेह अलंकार में उपमेय और उपमान में संशय होता है। यह संशय उभयकोटिक सादृश्य के कारण होता है। आचार्य मम्मट संदेह अलंकार का नाम ससंदेह तथा आचार्य रूद्रट संशय नाम से करते हैं।

वस्तुतः संदेह अलंकार में एक उपमेय होता है और उसमें अनेक उपमानों का संदेह किया जाता है।

संदेह अलंकार के प्रकार-

1. शुद्ध 2. निश्चय गर्भ तथा 3. निश्चयान्त

यथा -

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृंगारिणः।।

(किसी सुन्दरी का वर्णन है। रस की अधिकता के कारण खिली हुई यौवन रूप वृक्ष की क्या यह नवीन मञ्जरी है अथवा समुद्रतट तक उछलते हुए लावण्यसागर की लहर है या बढ़ी हुई उमंगों वाले पुरुषों को अपने सिद्धान्त (कामशास्त्र के व्यवहारों) की शिक्षा देने में तत्पर शृंगार के देव (कामदेव) की यह उपदेशयष्टि है।)

इस पद्य में तरुणी पर नवीन मञ्जरी, सागर की लहर और उपदेश यष्टि का संशय किया गया है। यहाँ कामिनी विषयक संशय का कोई निराकरण नहीं किया गया है। वह क्या है, यह संशय ही बना रह गया है। इसलिए यहाँ संदेह अलंकार है तथा संशय के निराकरण न होने के कारण शुद्ध संदेह है।

अन्य उदाहरण

1. चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
   रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
   स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
   धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.9
2. अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
   कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।

कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ।। साहित्यदर्पण पृ. 310

3. किं तावत् सरसि सरोजमेतदाराद।होस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद् बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः।।
साहित्यदर्पण पृ. 310

4. इन्दुः किं कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम्।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि। निश्चितं परतः।।
काव्यप्रकाश 10.423

5. अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। काव्यप्रकाश 10.421

5.7 भ्रान्तिमान्

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। साहित्यदर्पण 10.36

अनुवाद - सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को, यदि वह कवि की प्रतिभा से उत्पन्न हो तो भ्रान्तिमान अलंकार कहते हैं। भ्रान्तिमान् में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु का भ्रम होता है। यह भ्रम अत्यन्त निश्चयात्मक होता है।

विमर्श - भ्रान्तिमान् अलंकार रूपक से भिन्न है। रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है जबकि इसमें अनुपस्थित विषय (उपमान) पर उपस्थित विषय (उपमेय) का निश्चयात्मक भ्रम होता है। रूपक में भ्रम का अभाव होता है। यह संदेह अलंकार से इस अर्थ में भिन्न है कि संदेह में उपमान और उपमेय में संशय बना रहता है अर्थात् इसमें उपमेय पर उपमान का संशय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान होता है। भ्रान्तिमान् में निश्चयात्मक भ्रम होता है।

उदाहरण

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।

कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका।।
साहित्यदर्पण पृ. 311

(सान्द्रचन्द्रिका किसके चित्त में भ्रम पैदा नहीं करती है। विमुग्ध ग्वाले दूध बहता जान गौओं के नीचे घड़े लगा रहे हैं। कामिनी कुमुद (श्वेत कमल) को कुवलय (नील कमल) समझकर कान में पहन रही है। शबरी (भील की स्त्री) मोती समझकर झरबेरी के बेर बटोर रही है।)

यहाँ चन्द्रकिरणों से दूध का, कमल से कुवलय का तथा झरबेरी में मोती का भ्रम हो रहा है। यह भ्रम निश्चयात्मक है। इसलिए यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.24

2. कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति।। काव्यप्रकाश 10.553

3. कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य रमया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपौतकैर्वने।

4. अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेद पंकजम्।

5. पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वर धूममालिनीः ककुभः।
पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसाः।।

5.8 अपह्नुति

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः। साहित्यदर्पण 10.39

अनुवाद - प्रकृत का प्रतिषेध करके अन्य का स्थापन अर्थात् आरोप करना अपह्नुति अलंकार होता है।

विमर्श – यहाँ प्राकृत से तात्पर्य है – उपमेय और अन्य से तात्पर्य है – उपमान। इस प्रकार अपह्नुति अलंकार में उपमेय पदार्थ का निषेध करके उसके स्थान पर उसके उपमान का वर्णन किया जाता है। इसमें उपमेय और उपमान दोनों का वर्णन होता है परन्तु उपमेय का निषेध किया जाता है और उसके स्थान पर उपमान का ग्रहण किया जाता है। अर्थात् इसमें उपमेय पदार्थ का निषेध किया जाता है तथा उसके स्थान पर उपमान को स्थापित किया जाता है। अपह्नुति और रूपक में इतना ही भेद है कि अपह्नुति में उपमेय का निषेध कर उपमान का वर्णन किया जाता है जबकि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप मात्र किया जाता है। इसी प्रकार संदेह अलंकार में उपमेय पर उपमान का संशय बना रहता है जबकि अपह्नुति में संशय के स्थान पर निषेध किया जाता है।

साहित्य दर्पण के अनुसार अपह्नुति अलंकार दो प्रकार का होता है – (1) पहले उपमेय का निषेध फिर उपमान का आरोप (2) पहले उपमान का आरोप फिर उपमेय का निषेध।

आचार्य मम्मट ने अपह्नुति अलंकार के शाब्दी और आर्थी दो प्रकार बताये हैं।

मुख्य बातें

1. उपमेय का निषेध और उस पर उपमान का आरोप।
2. रूपक अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोप होता है जबकि अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उस पर उपमान का अरोप होता है।
3. आक्षेप अलंकार में भी उपमेय का निषेध होता है परन्तु वहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप नहीं होता है।
4. संदेह अलंकार में उपमेय और उपमान में संशय बना रहता है, अपह्नुति में संशय नहीं होता है अपितु आरोप होता है।

यथा –

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा, नवफेनभङ्गाः।
नाऽयं शशी, कुण्डलितः फणीन्द्रो, नाऽसौ कलङ्कः, शयितो मुरारिः॥

यह आकाशमण्डल नहीं है, समुद्र है। ये तारें नहीं, अपितु नवीन फेनों के खण्ड हैं। यह चन्द्रमा नहीं है, बल्कि कुण्डल मारकर बैठे हुए शेषनाग है। यह (चन्द्रमा पर दिखने वाला) कलङ्क नहीं, अपितु सोये हुए भगवान् विष्णु हैं।

यहाँ कवि आकाश का वर्णन कर रहा है। इस वर्णन में आकाशमण्डल, तारें, चन्द्रमा और कलङ्क उपमेय है। लक्षणवाक्य में इसी को प्रकृत कहा गया है। इनका ही वर्णन किया गया है। समुद्र, नवीन फेनखण्ड, कुण्डली मारकर बैठे हुए शेषनाग और सोये हुए भगवान विष्णु उपमान है। यहाँ ये उपमान आकाशादि उपमेय के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। अर्थात् आकाश के लिए समुद्र, तारों के लिए नवीन फेनखण्ड, चन्द्रमा के लिए कुण्डली मारकर बैठे हुए शेषनाग और कलङ्क के लिये सोये हुए भगवान् विष्णु का उपमान प्रस्तुत किया गया है। परन्तु वर्णन क्रम में उपमेय का निषेध पूर्वक उल्लेख करके उसको उपमान सिद्ध किया गया है। आकाश आकाश नहीं है, समुद्र है। इसमें आकाश आकाश नहीं है, यह आकाश का निषेध पूर्वक वर्णन है तथा यह समुद्र है, यह आकाश को समुद्र सिद्ध करना हुआ। इस प्रकार यहाँ उपमेय का प्रतिषेध कर उसको उपमान सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार तारें, चन्द्रमा और कलङ्क का निषेध किया गया है और उन पर फेन, शेषनाग और विष्णु का आरोप कर उनको उपमान सिद्ध किया गया है। इसलिए इस पद्य में अपह्नुति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये!
   कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।
   अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
   रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि॥ काव्यप्रकाश 10.431
2. बत सखि! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
   प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि।
   उपवनसहकारोद्भासिभृंगच्छलेन
   प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम्॥ काव्यप्रकाश 10.432
3. स्मितं नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
   मुखं ब्रूते मूढः कुसुममिदमुद्यत्परिमलम्।
   स्तनद्वयं मिथ्या कनकनिभमेतत् फलयुगं
   लता रम्या सेयं, भ्रमरकुलरम्या न रमणी॥
4. नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
   अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ काव्यालंकार 3.22

5. तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि। अभिज्ञानशाकुन्तल 3.3

5.9 उत्प्रेक्षा

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। साहित्यदर्पण 10.40

अनुवाद - प्रस्तुत (प्रकृतस्य) की अप्रस्तुत (परात्मना) के साथ संभावना उत्प्रेक्षा होती है।

विमर्श - इसका सीधा सा अर्थ है कि जब उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यहाँ सम्भावना से तात्पर्य है - उत्कटकोटिक संदेह। जब दो वस्तुओं में एक पर दूसरी वस्तु का प्रबल संदेह प्रकट किया जाता है, उसको सम्भावना कहा जाता है। भयंकर अकाल से त्रस्त किसान वर्षा को देखकर कहता है - मानो वर्षा का जल अमृत है। यहाँ वर्षा के जल पर अमृत की संभावना की गई है। यहाँ 'मानो' शब्द का प्रयोग से वर्षा के जल पर अमृत की उत्कटकोटिक संदेह प्रकट किया गया है। उत्कटकोटिक संदेह ही उत्प्रेक्षा अलंकार का मूल है। जब कवि अपनी प्रतिभा से उपमेय पर उपमान की उत्कटकोटिक सम्भावना करता है, तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। संस्कृत के पद्यों में मन्ये, शंके, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम् इव आदि शब्दों का उपमेय के साथ उपमान की उत्कटकोटिक सम्भावना प्रकट की जाती है। इनमें इव उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों में प्रयुक्त होता है। सामान्यतया उपमा में 'इव' का प्रयोग संज्ञा शब्दों के साथ होता है तथा उत्प्रेक्षा में क्रिया पद के साथ।

यथा -

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुष सेवेव दृष्टिर्विफलतां गताः॥

अत्यन्त घने अन्धकार का वर्णन करते हुए कवि कहता है - मानो अन्धकार अङ्गों में लेप लगा रहा है, आकाश काजल की वर्षा कर रहा है तथा दुष्ट पुरुष की सेवा के समान आँखें विफल सी हो गई है। लेपन अंधकार का धर्म नहीं है। आकाश काजल की वर्षा नहीं कर सकता है। परन्तु यहाँ इन दोनों

सम्भावना की गई है तथा इसके लिए 'इव' पद का प्रयोग किया गया है। यहाँ अन्धकार पर लेप तथा वर्षा जल पर काजल की सम्भावना की है। अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है।

उदाहरण

...कार्दे दत्तचक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
...कारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.6
...नुकृतानां निजमुपदेशन्त्या स्थितिपदं
...त्वा शालीनामवनतिमुदारे सति फले।
...मुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो
...तः कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा। मुद्राराक्षस 3.8

...घातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
...कृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः।
...र्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
...र्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.33

...जायतां च विरलां च नतोन्नतां च
...सप्तर्षिवंशकुटिलां च निवर्तनेषु।
निर्मुच्यमानाभुजगोदरनिर्मलस्य
सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम्॥ स्वप्नवासवदत्त 4/2

असक्तमाराधयतो यथायथं
विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥ किरातार्जुनीयम् 1.11

5.10 अतिशयोक्ति

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। साहित्यदर्पण 10.46

अनुवाद - अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

विमर्श -यहाँ अध्यवसाय से तात्पर्य है - उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण। अर्थात् जब उपमान उपमेय के स्वरूप को निगल जाता है और उपमेय के स्थान पर स्वयं को स्थापित कर देता है तब अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

लोक सीमा या लोक प्रसिद्धि का अतिक्रमण कर वर्णन करना अतिशयोक्ति कहलाता है और अतिशय की उक्ति अतिशयोक्ति है। अतिशयः अतिशयित प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः अतिशयोक्तिः।

जैसे - जल में कमल होता है। यह लोक प्रसिद्ध है। परन्तु जब कवि अपने वर्णन-चातुर्य से स्थल पर कमल के होने का वर्णन करता है तब वह अतिशयोक्ति कहलाता है।

अतिशयोक्ति अलंकार के भेद - आचार्य विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति अलंकार के पाँच भेदों का वर्णन किया है -

1. भेद में अभेद
2. अभेद में भेद
3. सम्बन्ध में असम्बन्ध
4. असम्बन्ध में सम्बन्ध
4. कार्य और कारणों के पौर्वापर्य का व्यत्यय

यथा -

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। वह कह रहा है - स्थल पर कमल है, उस कमल पर दो नीलकमल (कुवलय) और वे तीनों कनक लता पर लगे हैं। वह कनकलता कोमल और सुन्दर है। यह कैसी उत्पात की परम्परा है।

यहाँ कवि का लक्ष्य नायिका का वर्णन है। परन्तु वह कनकलता का वर्णन कर रहा है। वस्तुतः यहाँ नायिका उपमेय है और कनकलता उपमान है तथा उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण किया गया है।

स्थल पर कमल खिलना, कमल पर नीलकमल खिलना तथा कनकलता (स्वर्णलता) पर इन तीनों का होना, यह वर्णन लोक सीमा का अतिक्रमण है। लोक में जल में कमल खिलता है। इस प्रकार कमल पर कमल नहीं खिलता और न ही कनकलता पर कमल खिलने की कोई परम्परा है। इसप्रकार इस वर्णन में लोक-सीमा का अतिक्रमण किया गया है। इसलिए यह वर्णन अतिशयोक्ति है। परन्तु कवि यह वर्णन किसी प्रयोजन से कर रहा है। वस्तुतः

यहाँ नायिका के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन है। नायिका का मुख कमल है। मुख पर दो नेत्र कमल हैं तथा ये तीनों (मुख तथा दो नेत्र रूप कमल) नायिका के देह रूपी कनकलता पर सुशोभित हो रहे हैं।

इस प्रकार यहाँ नायिका के मुख, दो नेत्र तथा शरीर रूपी उपमेय का कमल तथा कनकलता रूप उपमान के द्वारा निगीर्ण कर उपमान और उपमेय में अभेद की स्थापना की गई है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
   चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.34
2. कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
   पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.17
3. शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरंगाणाम्।
   अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 3.4
4. पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः
   संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
   दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीतेर्
   इत्याधारानुरोधात्त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्तम्।। मुद्राराक्षस 1.2
5. यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
   तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम्।। साहित्यदर्पण पृ. 324

5.11 तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥

साहित्यदर्पण 10.48

अनुवाद - केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का नाम तुल्योगिता है।

विमर्श- तुल्या योगिता अन्वयो यत्रेति तुल्ययोगिता अर्थात् समान (तुल्या) अन्वय (योगिता) का होना तुल्ययोगिता है। इसका तात्पर्य है कि जहाँ पर

वर्णनीय प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत समस्त विषयों में एक ही गुण अथवा क्रिया को दिखाया गया हो, वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है।

यथा -

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु, दीपदशाः।
समयेन तेन सुचिरं शयितप्रतिबोधितस्मरबोधिषत॥

(उस समय (सन्ध्या समय) ने देर तक (दिनभर) सोये हुए कामदेव को जगाने के लिए अनुलेपनों (चन्दन, कस्तूरी आदि का लेप) पुष्पों, पतियों पर क्रुद्ध अबलाओं और दीपों की बत्तियों को प्रतिबोधित किया।)

यहाँ अनुलेपन आदि समस्त विषयों के साथ एक ही धर्म 'बोधन क्रिया' का सम्बन्ध दिखाया गया है। इसलिए तुल्ययोगिता अलंकार है। यद्यपि बोधन क्रिया का तात्पर्य अनुलेपन, पुष्प आदि के साथ अलग-अलग है परन्तु सबको एक ही धर्म से अभिव्यक्ति चमत्कार का सृजन करता है।

अन्य उदाहरण

1. जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थिति मण्डलमभिलिखन्ति।
   ये मन्त्ररक्षणपरास्ते **सर्पनराधिपावुचरन्ति**॥ मुद्राराक्षस 2.1
2. परिग्रहबहुत्वेऽपि **द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।**
   समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 3.17
3. संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
   भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
   चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय -
   मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.13
4. जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम्।
   गुरौ षाड्गुणचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति॥ मुद्राराक्षस - 7.13
5. अश्वैः सार्द्धमजस्रदत्तकविकैः क्षामैरशून्यासनैः
   स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान्।
   माहात्म्यात्तव पौरुषस्य मतिमन्दृप्तारिदर्पच्छिदः
   पश्यैतान्परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान्गजान्॥ मुद्राराक्षस - 7.15

5.12 दीपक

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।
साहित्यदर्पण 10.49

अनुवाद -अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म (क्रिया) अथवा अनेक क्रियाओं में एक ही कारक होने पर दीपक अलंकार होता है।

विमर्श- दीपक अलंकार में प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) ...ों का ही वर्णन होता है तथा इन दोनों में एकधर्माभिसम्बन्ध होता है। अर्थात् ...ों में एक ही क्रिया (धर्म) का कथन किया जाता है। इसी प्रकार अनेक क्रियाओं के होने पर एक ही कारक का कथन करना भी दीपक अलंकार होता है। जिस प्रकार दरवाजे की देहलीज पर रखा हुआ दीपक घर के अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही गुण या क्रिया रूप धर्म अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों पदार्थों का प्रकाशन करता है। इसीलिए इसको दीपक अलंकार कहते हैं।

भेद - दीपक अलंकार दो प्रकार का होता है -

1. क्रियादीपक तथा 2. कारक दीपक

क्रिया दीपक - अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों ही पदार्थों के लिए एक ही क्रिया का कथन क्रिया दीपक है।

जैसे -

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्॥

कंजूस का धन, नाग की फणमणि, सिंहों का केसर और कुलबालिकाओं के स्तन उनके जीवित रहते कैसे स्पर्श किये जा सकते हैं।

इस उदाहरण में कुलवधू प्रस्तुत है तथा कृपण का धन, नागों की फणमणि तथा सिंहों का केसर अप्रस्तुत है। इन दोनों के एक ही धर्म 'स्पृश्यन्ते' का वर्णन किया गया है। स्पर्श क्रिया रूप धर्म प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के लिए है। इसलिए यहाँ क्रिया दीपक अलंकार है।

कारक दीपक - अप्रस्तुत और प्रस्तुत के लिए एक ही कारक का प्रयोग कारक दीपक अलंकार होता है।

दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्न मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति, वासगृहं, त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन।

नायक के कहीं दूर चले जाने पर नायिका की दशा का वर्णन दूती करती है। तुम उसके प्राणनाथ हो, तुम्हारे दूर चले जाने पर वह बेचारी कामदेव के बाण से बिधी हुई, (कभी) उठती है, (कभी) सोती है, (कभी) तुम्हारे निवास स्थान की ओर आती है और क्षण भर में लौट जाती है, (कभी) हँसती है और (कभी) लम्बी सांसे लेती है।

यहाँ उत्तिष्ठति, स्वपिति, आयाति, याति, हसति, श्वसिति, क्रियाओं का कर्ता रूप में एक ही कारक (कर्ता) 'सा' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अनेक क्रियाओं के साथ एक ही कारक का प्रयोग होने से यहाँ क्रिया दीपक अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा -
   दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वास: प्रामाणाधिक:।
   स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
   बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिता: पर्याकुला मूर्धजा:।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.31
2. स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावत:।
   गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्राय: सीदन्ति दु:खिता।। मुद्राराक्षस 1.16
3. अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चै: कुलं चात्मन -
   स्त्वय्यस्या कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
   सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
   भाग्यायत्तमत: परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभि:।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.17
4. बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
   सती च योषित्प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।।

साहित्यदर्पण पृ. 328

5.13 दृष्टान्त

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन: प्रतिबिम्बनम्। साहित्यदर्पण 10.50

अनुवाद - धर्म के साथ वस्तु के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।

विमर्श –दो वाक्यों के बीच सादृश्य का वर्णन न होने पर भी सादृश्य की स्थापना प्रतिबिम्बन कहलाता है। अर्थात् दो वाक्यों के बीच शब्दत: सादृश्य का वर्णन नहीं होता है परन्तु सादृश्य की प्रतीति होती है।

दृष्टान्त अलंकार में उपमान और उपमेय दो वाक्य होते हैं। इन दोनों वाक्यों में साधारण धर्म के साथ प्रतिबिम्बन होता है। दोनों वाक्यों का साधारण धर्म भिन्न-भिन्न होता है तथा इव आदि सादृश्यवाचक किसी पद का प्रयोग भी नहीं होता है परन्तु उनके मध्य सादृश्य की प्रतीति होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दृष्टान्त अलंकार में किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि के लिए उसके ही समान दूसरी बात कही जाती है। दोनों वाक्यों के मध्य किसी प्रकार के सादृश्य का कथन नहीं होता है, परन्तु सादृश्य की स्थापना या प्रतीति होती है।

दृष्टान्त अलंकार दो प्रकार का होता है -

1. साधर्म्य दृष्टान्त
2. वैधर्म्य दृष्टान्त

उदाहरण-

साधर्म्य

अविदितगुणापि सत्कविभणिति: कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला।

सत्कवियों की उक्ति के गुणों को न जानने पर भी (सुनने पर) कानों में मधुर धारा बरसाती है। (दूर होने के कारण) मालती माला का सुगन्ध प्रतीत न होने पर भी (वह माला) दृष्टि को अपनी ओर खींच ही लेती है।

यहाँ दो वाक्य हैं - सत्कवि के सम्बन्ध में तथा मालती माला के सम्बन्ध में। प्रथम उपमेय-वाक्य है तथा द्वितीय उपमान-वाक्य है। इन दोनों वाक्यों के बीच सादृश्य की स्थापना के लिए 'इव' आदि सादृश्य वाचक शब्दों का प्रयोग

नहीं किया गया है। दोनों के साधारण धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं परन्तु दोनों ही वाक्यों के बीच सादृश्य की प्रतीति हो रही है। इसलिए इनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। यहाँ धर्मी (सत्कवि तथा मालती-माला) और धर्म (मधुर धारा बरसाना तथा दृष्टि को अपनी ओर खींचना) में सादृश्य का कथन न होने पर भी सादृश्य की प्रतीति हो रही है। इसलिए यहाँ साधर्म्य दृष्टान्त अलंकार है।

वैधर्म्य

तवयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः॥

तुम्हें देखने पर मृगलोचनी की कामव्यथा दूर हो जाती है। चन्द्रमा के उदित न होने पर कुमुदावली की ग्लानि देखी गई है।

इन वाक्यों में मृगलोचनी और कुमुदावाली, नायक और चन्द्रमा तथा काम-व्यथा और ग्लानि में सादृश्य की प्रतीति हो रही है। यहाँ चन्द्रमा के उदित न होने पर कुमुदसमूह की ग्लानि देखी गई है (दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहते) वाक्य का उदित होने पर कुमुदसमूह की ग्लानि नहीं देखी गई है वाक्य में पर्यवसित होकर दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव दृष्टिगत होता है। अतः यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त अलंकार है।

अन्य उदहारण

1. शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.17

2. तपति तनुगात्राणि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः॥

अभिज्ञानशाकुन्तल 3.14

3. कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां
काले काले छिद्यते रुह्यते च॥ स्वप्नवासवदत्त 6.10

4. मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवताः
तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः।

पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं
शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥ कुमारसम्भव 5.4

5.14 निदर्शना

संभवन्वस्तुसंबन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥

साहित्यदर्पण 10.51

अनुवाद - जहाँ कहीं वस्तु सम्बन्ध सम्भव होकर अथवा असम्भव होकर भी बिम्बप्रतिबिम्ब भाव को बोधित करे, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

विमर्श -बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का तात्पर्य है - सादृश्य। सादृश्य ही उपमान और उपमेय का आधार है। कहीं पर दो वस्तुओं (वाक्यों) के बीच उपमानोपमेय भाव की कल्पना सम्भव होती है तथा कहीं पर असम्भव। दोनों ही परिस्थितियों में दो वस्तुओं के बीच बिम्बप्रतिबिम्ब भाव की कल्पना की जाती है। इसमें दो वाक्यों (उपमेय और उपमान) के मध्य प्रत्यक्ष रूप से अन्वय नहीं बन पाता है परंतु इनमें अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस अप्रत्यक्ष संबंध के कारण ही वर्णनीय दो वाक्यों में उपमान - उपमेय की कल्पना कर ली जाती है। इसी को बिम्ब-प्रतिबिम्ब कहते हैं। दृष्टान्त अलंकार में उपमान-उपमेय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, जबकि यहाँ दोनों वाक्यों (उपमेय-उपमान) में अपेक्षा के कारण बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की प्रतीति होती है।

यह तीन प्रकार का होता है -

1. सम्भव निदर्शना
2. असम्भव निदर्शना (यह भी दो प्रकार का है - 1. एकवाक्यगत तथा 2. अनेकवाक्यगत)
3. मालारूप निदर्शना

यथा -

कोऽत्रभूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदम्।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः॥

(इस भूमि पर लोगों को व्यर्थ संताप देता हुआ कौन अधिक समय तक सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है? सन्तापदायक ग्रीष्म-दिन के द्वारा यह सूचना देता हुआ सूर्य अस्ताचल की ओर चल दिया)

यहाँ 'सूर्य के अस्त होने' और 'संतापदायक मनुष्यों के द्वारा सम्पत्ति का अधिक समय तक उपभोग न कर सकने में सादृश्य सम्बन्ध है। इस सादृश्यता के कारण इनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। फलतः यहाँ निदर्शना अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. इदं किलाव्याजमनोहरं वपु:
   स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
   ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
   समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.18
2. शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखिवृत्तिं सपत्नीजने
   भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
   भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
   यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.18
3. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
   तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।। रघुवंश 1.2
4. वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
   हा हेत्युच्चरितार्तनादकरुणं भूरेणुरुक्षालकम्।
   तादृङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
   शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः।। मुद्राराक्षस - 4.5
5. योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाधरे।
   समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः।। साहित्यदर्पण - 10.51

5.15 व्यतिरेक

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा व्यतिरेकः। साहित्यदर्पण 10.52

अनुवाद - उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा न्यूनता व्यतिरेक अलंकार है।

विमर्श- जहाँ उपमान से उपमेय को उत्कृष्ट अथवा उपमान से उपमेय को अपकृष्ट (हीन) बताया गया हो वहाँ पर व्यतिरेक अलंकार होता है।

[illegible] उपमेय की उत्कृष्टता और उपमान की हीनता दोनों के कारणों का वर्णन होने पर।

1. उपमेय की उत्कृष्टता का कारण न बताया गया हो परन्तु उपमान की हीनता का कारण बताया गया हो।
2. उपमेय की उत्कृष्टता का कारण बताया गया हो परन्तु उपमान की हीनता का कारण न बताया गया हो।
3. उपमेय की उत्कृष्टता और उपमान की हीनता दोनों का कथन न किया गया हो।

इन चारों के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं -

1. इन चारों में उपमानोपमेय भाव का शब्दतः कथन होना
2. इन चारों में उपमानोपमेय भाव शब्दतः नहीं अर्थबल से ज्ञात होना।
3. इन चारों में उपमानोपमेय भाव न शब्दगम्य हो और न ही अर्थगम्य, अपितु आक्षिप्त हो।

इस प्रकार चार भेदों के पुनः तीन-तीन भेद होने पर (4 X 3) 12 भेद हो गये।

ये 12 भेद श्लेष और अश्लेष भेद से (12 X 2) 24 प्रकार के हो जाते हैं।

इसी प्रकार उपमेय हीनता और उपमान की श्रेष्ठता में व्यतिरेक अलंकार के 24 भेद होते हैं। दोनों मिलाकर व्यतिरेक अलंकार के कुल 48 भेद होते हैं।

यथा - **अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।**

उसका निष्कलङ्क मुख कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं है।

यहाँ मुख और चन्द्रमा क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। इस वर्णन में उपमेय मुख को उपमान चन्द्रमा से उत्कृष्ट बताया गया है। मुख कलङ्करहित है जबकि चन्द्रमा कलङ्कयुक्त है। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

हनुमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः।

हनुमानादि के द्वारा दूतमार्ग (दूत के कर्म) को यश से शुभ्र किया गया और मेरे द्वारा (नल) उस (दूतमार्ग) को शत्रुओं की हँसी से शुभ्र किया गया।

यहाँ हनुमानादि उपमान हैं तथा राजा नल उपमेय हैं। इस पद्य में उपमान की उत्कृष्टता और उपमेय की न्यूनता वर्णित है। हनुमानादि ने दौत्य कर्म करके यश को प्राप्त किया जबकि नील इसी कर्म को करके शत्रुओं की हँसी के पात्र बने। इस प्रकार यहाँ उपमान से उपमेय की न्यूनता का वर्णन होने से व्यतिरेक अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
   तपःषड्भागमक्षयं ददत्यारण्यका हि नः॥ — अभिज्ञानशाकुन्तल 2.13
2. यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोकम्
   अस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम्।
   पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि
   धाम्नातिशाययति धाम सहस्रधाम्नः॥ — मुद्राराक्षस 3.17
3. क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
   विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु॥ — साहित्यदर्पण 10.52
4. असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे।
   अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः॥ — काव्यप्रकाश 10.464
5. भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्ये।
   राजापथ्ये पुनः सेविते सकलमपि कुलं म्रियते। — मुद्राराक्षस 7.2

5.16 समासोक्ति

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥

साहित्यदर्पण 10.56

अनुवाद - जहाँ समान कार्य, लिङ्ग और विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप किया जाये वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

विमर्श –समासोक्ति अलंकार में कार्य, लिङ्ग और विशेषणों के बल से वर्णित विषय में अवर्णित विषय की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि जब किसी पद्य में वर्णित विषय के लिए प्रयुक्त कार्य, लिङ्ग और विशेषणों के सामर्थ्य से किसी अन्य विषय की प्रतीति होने लगे तब वहाँ समासोक्ति

अलंकार होता है। वस्तुतः समासोक्ति का अर्थ है - संक्षिप्त उक्ति। प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति के कारण इसमें संक्षिप्त होती है तथा इसीलिए इसको समासोक्ति कहते हैं।

भेद

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार समासोक्ति अलंकार के तीन प्रकार हैं -

1. समान कार्य के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार
2. स्त्रीलिङ्ग,पुल्लिङ्ग की तुल्यता से प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप
3. विशेषणों की समानता से प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार। विशेषणों की समानता भी दो प्रकार से होती है:–
   i. श्लिष्ट (दो अर्थवाले शब्द) विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार
   ii. विशेषणों का प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत अर्थ में समान रूप से अन्वय

इस प्रकार समासोक्ति अलंकार के भेद चार हैं।

समासोक्ति अलंकार में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार चार प्रकार से होता है -

1. एक लौकिक वस्तु में दूसरे लौकिक वस्तु का व्यवहार
2. एक शास्त्रीय वस्तु में दूसरे शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार
3. लौकिक वस्तु में शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार
4. शास्त्रीय वस्तु में लौकिक वस्तु का व्यवहार

यथा -

लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा॥

किसी वीर योद्धा के बारे में कहा जा रहा है - तुम्हारे बाहु का स्पर्श पाकर जिसको कोई अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती थी, वह जयलक्ष्मी तुम्हारे विरह में अब न केवल अनुज्ज्वल अपितु दुर्बल भी हो गई है।

इस पद्य में जयलक्ष्मी अर्थात् विजयश्री का वर्णन किया गया है। वीर योद्धा के अभाव में विजयश्री कान्तिरहित और दुर्बल हो गई है। यहाँ विजयश्री के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उन्हीं विशेषणों के बल से

जयलक्ष्मी पद का कामिनी या नायिका अर्थ भी व्यञ्जित हो रहा है या कामिनी के संदर्भ में सम्पूर्ण पद्य का अभिप्राय अत्यन्त सरलता से व्यञ्जित हो रहा है। आचार्य विश्वनाथ ने इसी को 'व्यवहार समारोपः' कहा है। अर्थात् प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप। इस उदाहरण में प्रस्तुत जयलक्ष्मी पर अप्रस्तुत कामिनी का आरोप किया गया है। यह आरोप व्यक्ति अपने मन से नहीं कर सकता है। अपितु प्रयुक्त कार्य, लिङ्ग या विशेषण के बल से होता है।

जयलक्ष्मी पद का अर्थ कामिनी लेने पर पद्य का अर्थ है - हे नायक तुम्हारी बाहुओं का स्पर्श पाकर जिसको कोई अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता था, वह कामिनी अब तुम्हारे विरह में कान्तिरहित और बलरहित हो गई है।

इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत जयलक्ष्मी पर अप्रस्तुत कामिनी के समारोप से एक नवीन अर्थ की प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना -
   माविष्कृतोऽरुणपुरः सर एकतोऽर्कः।
   तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
   लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.2
2. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
   दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
   इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
   दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.3
3. सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
   चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो यास्य गुरुणा।
   धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
   मनस्वी दम्यत्वात्स्खलति च न दुःख वहति च।। मुद्राराक्षस 3.3
4. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
   यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागात् गलितं न लक्षितम्।
   ध्वन्यालोक 1.13

5. उदारकीर्तेरुदयं दयावतः
   प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
   स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
   वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी।। किरातार्जुनीय 1.18

5.17 स्वभावोक्ति

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्। साहित्यदर्पण 10.93

अनुवाद - दुरुह अर्थात् कविमात्र से ज्ञातव्य अर्थ (दुरूहार्थ) जो बच्चे आदि की स्वचेष्टा (स्वक्रिया) और स्वरूप (रूप) का वर्णन है, वह स्वभावोक्ति अलंकार है।

विमर्श - इसका तात्पर्य है कि स्वभावोक्ति अलंकार में बालक आदि की स्वाभाविक क्रिया तथा स्वभाव का वर्णन होता है। परन्तु इसकी एक शर्त है - इसमें कवि प्रतिभा का चमत्कार होना चाहिए। इसीलिए लक्षण में दुरूहार्थ (कवि मात्र से ज्ञातव्य अर्थ) का प्रयोग किया गया है।

स्वभावस्य-स्वभाविकगुणस्य उक्तिः कथनमिति स्वभावोक्तिः अर्थात् स्वाभाविक गुणों का कथन स्वभावोक्ति है। स्वाभाविक गुण के अन्तर्गत वस्तु की जाति, गुण, क्रिया तथा स्वभाव ग्रहण होता है। इसलिए किसी वस्तु की जाति, गुण, क्रिया तथा स्वरूप का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार में होता है। इस वर्णन में कवि की मौलिक प्रतिभा, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता और चमत्कार का दर्शन होना चाहिए। यह अलंकार केवल बालकों के स्वभावादि वर्णन तक सीमित नहीं है। इसमें पशु, पक्षी, नर, नारी, प्राकृतिक दृश्य आदि भी सम्मिलित है। अचार्य रूद्रट ने स्पष्ट कहा है कि शिशु, मुग्ध, युवति, कातर, पशु-पक्षी, संभ्रान्त तथा हीन व्यक्तियों का काल और अवस्था के अनुसार वर्णन में इस अलंकार की विशेष रमणीयता होती है।

1. अग्निपुराण में स्वभावोक्ति को स्वरूप अलंकार कहा गया है। यहाँ इसके दो भेद बताये गये हैं -
   (क) निज तथा (ख) आगन्तुक
2. आचार्य दण्डी स्वभावोक्ति के चार भेद मानते हैं - 1. जाति 2. गुण 3. क्रिया और 4. द्रव्य
3. भामह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते हैं।

4. कुछ आचार्य स्वभावोक्ति का जाति नाम से वर्णन करते हैं।
5. आचार्य कुन्तक ने स्वभावोक्ति अलंकार का खण्डन किया है। उनका मानना है कि यह अलंकार न होकर अलंकार्य है।

उदाहरण

लांगूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन्विक्रमेण।
स्फूर्जद्धुंकारघोषः प्रतिदिशमखिलान्द्रावयन्नेव-
जन्तून्कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छून चक्षुस्तरक्षुः॥

(बार-बार पूँछ को पटककर अगले पैरों से पृथ्वी को खोदता हुआ, बड़े वेग से घूँ-घूँ शब्द करता हुआ, सभी जीवों को चारों ओर भगाता हुआ, क्रोध से भरा, लाल-लाल उभरे हुए आखों वाला तरक्षु (लकड़बग्घा) वन में प्रवेश किया।)

यहाँ क्रोधित लकड़बग्घा के वन में प्रवेश का स्वाभाविक वर्णन है। अतः स्वाभाविक अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
   निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
   आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
   धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.8
2. नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
   प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
   विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा –
   स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥

   अभिज्ञानशाकुन्तल 1.14
3. कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
   भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
   एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भाङ्कुराणां
   नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.15

4. प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
   द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
   त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
   ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः॥ मुद्राराक्षस 2.13
5. उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
   बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
   शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्
   विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥ मुद्राराक्षस 3.15

5.18 अप्रस्तुत प्रशंसा

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्॥

साहित्यदर्पण 10.59

अनुवाद - यदि अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति होती है, तब अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। यह पाँच प्रकार का होता है - कहीं पर सामान्य से विशेष, कहीं पर विशेष से सामान्य, कहीं पर कार्य से कारण, कहीं पर कारण से कार्य और कहीं पर समान से समान की प्रतीति होती है।

विमर्श- प्रस्तुत के वर्णन के लिए अप्रस्तुत का वर्णन करना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का वर्णन पाँच प्रकार से किया जाता है:-

1. अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का वर्णन
2. अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का वर्णन
3. अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का वर्णन
4. अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का वर्णन
5. अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु का वर्णन

इसी आधार पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के पाँच प्रकार होते हैं। ये पाँच प्रकार वहीं है जो अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत के वर्णन के प्रकार हैं।

1. अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है तथा प्रस्तुत व्यंग्य होता है।
2. प्रस्तुत का ही प्राधान्य होता है।
3. समासोक्ति में प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत का आक्षेप होता है जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का वर्णन किया जाता है।

यथा -

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥

(अपना अपमान होने पर भी चुप बैठे रहने वाले मनुष्यों से तो वह धूल भी अच्छी है जो ठोकर लगने पर ठोकर मारने वाले के सिर पर बैठ जाती है।)

यहाँ अपना तिरस्कार सहने वाले लोगों का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि ऐसे लोगों से धूल श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ठोकर मारने वाले के सिर पर बैठकर अपने अपमान का बदला लेती है। यह एक सामान्य कथन है। प्रसंगानुसार इस कथन का तात्पर्य है कि शिशुपाल के द्वारा अपमानित होने वाले कृष्ण और बलराम से धूल श्रेष्ठ है। इस प्रकार यहाँ तिरस्कार सहने वाले लोगों का वर्णन अप्रस्तुत है क्योंकि कवि का ध्येय यह वर्णन नहीं है परन्तु इसी अप्रस्तुत से कृष्ण और बलराम के द्वारा शिशुपाल कृत अपमान सहने की बात व्यंजित हो रही है और यही कवि का वर्ण्य विषय है। इसी को प्रस्तुत कहते हैं। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का वर्णन है और यही अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का जनक है। इसी प्रकार इस अलंकार के अन्य भेदों को समझना चाहिए।

अन्य उदाहरण

1. असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
   यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
   सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
   प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.22
2. **कः पौरवे** वसुमतिं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
   अयमाचरत्यविनयं **मुग्धासु तपस्विकन्यासु**॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.25

3. शुद्धान्तदुर्लभमिदं **वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।**
   दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.17
4. पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद् भवति भक्तिगृहीतात्।
   मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः॥ मुद्राराक्षस 1.18
5. अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
   प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम्।
   प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
   ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च॥ मुद्राराक्षस 1.15

5.19 अर्थान्तरन्यास

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥
साहित्यदर्पण 10.62

अनुवाद - यदि विशेष से सामान्य, सामान्य से विशेष, कारण से कार्य तथा कार्य से कारण का साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से समर्थन किया जाए तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यह आठ प्रकार का होता है।

विमर्श - अर्थान्तरन्यास अलंकार में जिस विषय का वर्णन किया जाता है, उस विषय का समर्थन किसी अन्य विषय को उपस्थित करके किया जाता है। इसमें एक वर्णनीय विषय होता है। कवि वर्णनीय विषय के समर्थन में अवर्णनीय विषय को प्रस्तुत करता है।

अन्यं अर्थं अर्थान्तरं, तस्य न्यासः अर्थान्तरन्यासः। अर्थान्तर अप्रस्तुत होता है। कवि प्रस्तुत के समर्थन में अप्रस्तुत को उपस्थित करता है। यह समर्थन मुख्यतः साधर्म्य तथा वैधर्म्य दो प्रकार से होता है। पुनः ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास अलंकार आठ प्रकार का होता है-

1. प्रस्तुत के सामान्य होने पर अप्रस्तुत विशेष से समर्थन।
2. प्रस्तुत के विशेष होने पर अप्रस्तुत सामान्य से समर्थन।
3. प्रस्तुत के कार्य होने पर अप्रस्तुत कारण से समर्थन।
4. प्रस्तुत के कारण होने पर अप्रस्तुत कार्य से समर्थन।

ये चार भेद पुनः साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर 8 प्रकार के हो जाते हैं।

यथा-

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥

(बड़ों की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिलकर छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है।)

यहाँ 'बड़ों की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है' यह एक प्रस्तुत तथा सामान्य कथन है। कवि इसी का वर्णन कर रहा है। इस प्रस्तुत सामान्य कथन के समर्थन में बड़ी नदी और छोटी पहाड़ी नदी का उदाहरण दिया गया है। यह उदाहरण यहाँ अप्रस्तुत है क्योंकि यह कवि का वर्ण्य-विषय नहीं है, केवल वर्ण्य-विषय के समर्थन के लिए इसको प्रस्तुत किया गया है। दोनों में साधर्म्य भी है। इसलिए यह अर्थान्तरन्यास अलंकार का उदाहरण है। यहाँ साधर्म्य जनित प्रथम प्रकार का अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

अन्य उदाहरण

1. आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.2
2. शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहु कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.16
3. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.20
4. पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी॥ मुद्राराक्षस 2.7

5. पूर्वं त्वयाप्यभिमतं गतमेवमासी-
च्छ्लाघ्यं गमिष्यसि पुनर्विजयेन भर्तुः।
कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्ति। स्वप्नवासवदत्त 1.4

5.20 काव्यलिङ्ग

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। साहित्यदर्पण - 10.63

अनुवाद - हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में होना काव्यलिङ्ग अलंकार कहलाता है। अर्थात् काव्य का वाक्यार्थ या पदार्थ जब किसी कथन के कारण के रूप में प्रयुक्त होता है तब वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है।

विमर्श- काव्यलिङ्ग पद में प्रयुक्त लिङ्ग पद का अर्थ है - **हेतु - लिङ्गं हेतुः। काव्याभिमतं लिङ्गं काव्यलिङ्गम्।** अर्थात् काव्यसम्मत् हेतु काव्यलिङ्ग है। यहाँ काव्यसम्मत् कहने का तात्पर्य है कि काव्य में जिन हेतुओं का वर्णन किया जाता है वे तर्कशास्त्र से भिन्न होते हैं। इस अलंकार के नाम में काव्य पद के प्रयोग का भी यही प्रयोजन है। काव्य में कारण का वर्णन कहीं वाक्यार्थ के रूप में होता है और कहीं पदार्थ के रूप में होता है। इसी आधार पर काव्यलिङ्ग अलंकार के दो भेद होते हैं -

1. वाक्यार्थगत काव्यलिङ्ग
2. पदार्थगत काव्यलिङ्ग

यथा-

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा
गतास्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

(हे प्रिये, तुम्हारे नेत्र के समान कान्तिवाले नीलकमल पानी में डूब गये। तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाले चन्द्रमा को बादलों ने ढँक लिया, जो तुम्हारी गति के समान गतिवाले राजहंस थे, वे सब (वर्षा के कारण चले गये)। दैव तुम्हारे सादृश्य के साथ भी मेरे विनोद को सहन नहीं कर रहा है।

इस पद्य के प्रथम तीन चरणों में जिन प्रतिकूलताओं का वर्णन किया गया है, उन सबका कारण चतुर्थ चरण में दैव को बताया गया है। इस प्रकार प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ का हेतु चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। यहाँ पूर्वार्ध के तीन वाक्यों का कारण उत्तरार्ध का वाक्य है। इसलिए यह वाक्यगत काव्य-लिङ्ग है।

अन्य उदाहरण

1. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
   तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
   स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स
   न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.1
2. ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
   अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.4
3. तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
   आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.11
4. प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं दैवतैरन्यैः।
   एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम्।। मुद्राराक्षस 1.17
5. कार्यं नैवार्थैर्नापि भोगैर्न वस्त्रै -
   र्नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः।
   धीरा कन्येयं दृष्टधर्मप्रचारा
   चारित्रं रक्षितुं मे भगिन्याः।। स्वप्नवासवदत्त 1.9

5.21 विभावना

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। साहित्यदर्पण 10.66

अनुवाद - हेतु अर्थात् कारण के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना अलंकार होता है। अर्थात् कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करना विभावना अलंकार है।

विमर्श- विभावना शब्द में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग का अर्थ है - विशेष तथा भावना का अर्थ है - कल्पना। इस प्रकार विभावना का अर्थ है - विशेष प्रकार

की कल्पना। कवि की प्रतिभा अत्यन्त उर्वर होती है। वह कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति दिखलाता है। यही तो उसका चमत्कार है। इस प्रकार विभावना अलंकार में कारण के बिना कार्य का वर्णन किया जाता है। यहाँ जो लौकिक नियम का विरोध होता है उसके शमन के लिए कवि किसी प्रसिद्ध कारण का उल्लेख कर देता है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभावना अलंकार के दो प्रकार हैं:-

1. उक्तनिमित्ता 2. अनुक्तनिमित्ता

उक्तनिमित्ता विभावना - इसमें अप्रसिद्ध कारण का उल्लेख होता है।

यथा -

अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ।
आभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः।।

यौवन काल में सुन्दर भृकुटीवाली इस नायिका की कमर बिना श्रम के ही दुबली हो रही है और नेत्र बिना ही शंका के चञ्चल हैं तथा शरीर बिना ही भूषणों के रमणीय है।

कमर के दुबला होने का कारण श्रम है, नेत्रों की चञ्चलता का कारण शंका है तथा शरीर की सुंदरता का कारण आभूषण है परन्तु यहाँ इन कारणों के अभाव में भी कार्य हो रहा है। श्रम के बिना भी कमर दुबली हो गई है। शंका के अभाव में भी नेत्र चञ्चल हो गये हैं तथा बिना आभूषण के शरीर सुन्दर लग रहा है। इस प्रकार यहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य सम्पन्न हो रहा है। इसलिए यहाँ विभावना अलंकार है। यहाँ इन सबका गौण कारण यौवन उक्त है। इसीलिए यहाँ उक्तनिमित्ता विभावना है।

अनुक्तनिमित्ता विभावना - आचार्य विश्वनाथ के अनुसार उपर्युक्त श्लोक में **'वपुर्वयसि सुभ्रुवः'** के स्थान पर **'वपुर्भाति मृगीदृशः'** परिवर्तित कर देने पर यही पद अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण बन जाता है। वस्तुतः 'वपुर्भाति मृगीदृशः' कर देने पर उक्त पद्य में कार्य दृष्टिगत होता है परन्तु कारण नहीं तथा कारण के अनुक्त हो जाने से यह अनुक्तनिमित्ता विभावना का उदाहरण हो जायेगा।

अन्य उदाहरण

1. यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते
ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते
भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.23

2. पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण -
मत्रान्तरे **श्रवणकातरतां गतोऽस्मि॥** अभिज्ञानशाकुन्तल 3.8

3. अक्षीणभक्तिः क्षीणेऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन्।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः॥ मुद्राराक्षस 2.22

4. विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः॥

मुद्राराक्षस 7.11

5. कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्त्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा॥

काव्यप्रकाश 10.474

6

छन्द

संस्कृत साहित्य में पद्य निर्माण में छन्द का विशेष महत्त्व है। छन्द की
परिभाषा दी गई है - **यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः** अर्थात् अक्षर अथवा वर्ण के
परिमाण को छन्द कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि वर्णों की सुनिश्चित संख्या
तथा क्रमबद्ध प्रयोग को छन्द कहते हैं। संस्कृत साहित्य में छन्दों का प्रयोग
वैदिक काल से होता आ रहा है। छन्द को वेद का पैर कहा गया है - **छन्दः
पादौ तु वेदस्य** अर्थात् जिस प्रकार चरण के बिना कोई प्राणी गमन क्रिया नहीं
कर सकता है, उसी प्रकार छन्द-ज्ञान के अभाव में वेद मन्त्रों का पाठ नहीं हो
सकता है।

वृत्त का मुख्य प्रयोजन है - गेयता और लालित्य का आधान। छन्दों के
माध्यम से पद्यों में गेयता आती है, जिससे उनका लालित्य संवर्धन होता है। गेय
पदों को सुनने से इन्द्रियों को तृप्ति के साथ-साथ उसके अभिप्राय का ग्रहण
भी सरलता पूर्वक होता है। छन्दों के प्रयोग से पद्यों का शीघ्रता से स्मरण भी
हो जाता है। इस प्रकार पाठक और श्रोता दोनों की दृष्टि से वृत्त-प्रयोग का
विशेष महत्त्व है।

छन्द दो प्रकार के होते हैं - वार्णिक और मात्रिक।

वर्णों की गणना के आधार पर बने छन्द वार्णिक होते हैं। इन्हें ही जाति
कहते हैं। इसका प्रमुख छन्द आर्या है। लघु और गुरु मात्राओं के आधार पर बने
छन्द मात्रिक होते हैं। लौकिक संस्कृत में मात्रिक छन्दों का अधिक प्रयोग हुआ
है। जबकि वार्णिक छन्द वैदिक साहित्य में अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

छन्द-शास्त्र की मान्यता के अनुसार प्रत्येक पद्य के चार खण्ड होते हैं,
जिन्हें पाद या चरण कहते हैं। जिन छन्दों के चारों चरणों में बराबर-बराबर
अक्षर होते हैं, उसको समवृत्त कहते हैं। जिन छन्दों के प्रथम-तृतीय एवं

द्वितीय-चतुर्थ चरण में वर्णों की मात्रा बराबर-बराबर होती है; उसको अर्धसमवृत्त कहते हैं। इसी प्रकार जिसके चारों चरणों में वर्णों की संख्या भिन्न-भिन्न हो, उसको विषम वृत्त कहते हैं।

इस प्रकार वर्णों की संख्या के आधार पर तीन प्रकार के छन्द होते हैं :-

1. समवृत्त -

तथा समक्षं दहता मनोभवं - 12
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती। - 12
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती - 12
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।। - 12

कुमारसम्भव 5.1

2. अर्धसमवृत्त -

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धान् - 12
इयमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः। - 13
मुसलमिदमियं च पातकाले - 12
मुहुरनुयाति कलेन हुंकृतेन।। - 13

मुद्राराक्षस 1.4

3. विषमवृत्त -

अत्र वासवस्य वचनेन - 10
रुचिरवदनस्त्रिलोचनम्। - 10
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं - 11
विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः।। - 13

किरातार्जुनीय 12.1

इनमें समवृत्त की संख्या सर्वाधिक है। अर्धसमवृत्त में अपरवक्त्र, उपचित्र, पुष्पिताग्रा, वियोगिनी, वेगवती, हरिणप्लुता आदि प्रमुख छन्द हैं। विषम वृत्तों की संख्या बहुत कम है।

वर्ण-व्यवस्था - सम्पूर्ण छन्द-शास्त्र वर्णों पर आश्रित है। छन्द की दृष्टि से वर्ण दो प्रकार के होते हैं -

1. लघु और 2. गुरु। ह्रस्व स्वर वाले वर्ण लघु होते हैं तथा दीर्घ स्वर वाले वर्ण गुरु। अ, इ, उ, ऋ और ऌ ह्रस्व स्वर हैं जबकि आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ और औ दीर्घ स्वर हैं।

छन्द शास्त्र के नियमों के अनुसार कुछ परिस्थितियों में ह्रस्व स्वर को गुरु माना जाता है -

1. अनुस्वार युक्त या विसर्गयुक्त या संयुक्त व्यञ्जन के पहले का वर्ण गुरु हो जाता है।
2. पाद का अन्तिम वर्ण लघु होने पर भी आवश्यकतानुसार गुरु मान लिया जाता है।

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा।।

3. गुरु वर्ण के लिए 'ऽ' तथा लघु वर्ण के लिए '।' चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

गण-व्यवस्था - छन्द-शास्त्र में तीन वर्णों का समूह गण कहलाता है। वहाँ गुरु एवं लघु वर्णों की व्यवस्था के अनुसार आठ गण माने गये हैं -

यगण	- । ऽ ऽ
मगण	- ऽ ऽ ऽ
तगण	- ऽ ऽ ।
रगण	- ऽ । ऽ
जगण	- । ऽ ।
भगण	- ऽ । ।
नगण	- । । ।
सगण	- । । ऽ

इन्हीं आठ गणों एवं लघु तथा दीर्घ वर्णों के संयोजन से छन्द का निर्धारण होता है।

इनमें भगण के आदि में गुरु, जगण के मध्य में गुरु तथा सगण के अन्त में गुरु होता है। यगण के आदि में लघु, रगण के मध्य में लघु तथा तगण के अन्त में लघु होता है। मगण में सभी वर्ण गुरु तथा नगण में सभी वर्ण लघु होते हैं।

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥
मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥

6.1 अनुष्टुप् (श्लोक)

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

इस छन्द के प्रत्येक चरण में पाँचवा अक्षर लघु और छठा अक्षर गुरु होता है। सातवाँ अक्षर पहले और तीसरे चरण में गुरु होता है किन्तु दूसरे और चौथे चरण में लघु होता है। इसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं।

1 2 3 4 5 6 7 8
वागर्थाविव सम्पृक्तौ = 8
I S S

1 2 3 4 5 6 7 8
वागर्थप्रतिपत्तये = 8
I S I

1 2 3 4 5 6 7 8
जगतः पितरौ वन्दे = 8
S S

1 2 3 4 5 6 7 8
पार्वतीपरमेश्वरौ = 8 रघुवंश 1.1
I S I

कतिपय अन्य उदाहरण

1. कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.6
2. अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 2.16
3. का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 3.1

4. ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.7
5. दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.4

6.2 आर्या

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।

जिसके प्रथम तथा तृतीय चरण में 12, द्वितीय चरण में अठारह तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं, उसको आर्या छन्द कहते हैं। (इसमें ह्रस्व स्वर को एक मात्रा तथा दीर्घ स्वर को दो मात्रा माना जाता है)

अधरः किसलयरागः - 12
कोमलविटपानुकारिणौ बाहू। - 18
कुसुममिव लोभनीयं - 12
यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥ - 15 अभिज्ञानशाकुन्तल 1.18

कतिपय अन्य उदाहरण

1. अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.25
2. आ परितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.2
3. उद्गलितदर्भ कवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.12
4. कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.21

6.3 इन्द्रवज्रा

स्यादिन्द्रवज्राय दितौ जगौ गः।

इन्द्रवज्रा छन्द के प्रत्येक चरण में क्रम से दो तगण (तौ) एक जगण (ज) और दो गुरु वर्ण (गौ) होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हाते हैं।

अर्थो हि कन्या परकीय एव
ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ।
तगण तगण जगण
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
ऽ ऽ । ऽ ऽ। । ऽ । ऽ ऽ
तगण तगण जगण
जातो ममायं विशदः प्रकामं
ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
तगण तगण जगण
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥
ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
तगण तगण जगण

अभिज्ञानशाकुन्तल 4.22

कतिपय अन्य उदाहरण

1. भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 5.4

2. मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ती
मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून्।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्तं
जन्मान्तरं जीवत एव पुंसः॥ मुद्राराक्षस 5.8

3. जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धा –
स्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामुनरञ्जने स्या
स्तस्माद्यशो यत् परमं धनं वः॥ उत्तररामचरित 1.1

4. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे
भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।

तेभ्योऽधिगन्तु निगमान्तविद्यां
वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि॥ उत्तररामचरित 2.3

6.4 उपेन्द्रवज्रा

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण होते हैं।

यथा –

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
। ऽ। ऽ ऽ । । ऽ । ऽ/ऽ
जगण तगण जगण गु. गु.
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
। ऽ। ऽ ऽ । । ऽ । ऽ /ऽ
जगण तगण जगण गु. गु.
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ/ऽ
जगण तगण जगण गु.गु.
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥
। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
जगण तगण जगण गु.गु.

कतिपय अन्य उदाहरण

1. उपेत्य नागेन्द्रतुरंगतीर्णे तामारुणिं दारुणकर्मदक्षम्।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे महार्णवाभे युधि नाशयामि॥
स्वप्नवासवदत्तम् 5.13

2. उपेन्द्रवज्रादिमणिच्छटाभिर्विभूषणानां छुरितं वपुस्ते।
स्मरामि गोपीभिरुपास्यमानं सुरद्रुमूले मणिमण्डपस्थम्॥
आप्टे कोश पृ. 1189

3. भवन्नखाः कुन्ददलश्रियो ये नमन्ति लक्ष्मीस्तनलेखनेऽपि।
उपेन्द्र! वज्राधिककर्कशत्वं कथं गतास्ते रिपुदारणायाम्? छन्दशास्त्र पृ. 119

6.5 द्रुतविलम्बित

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, दो भगण और रगण वाला छन्द द्रुतविलम्बित कहलाता है। इसमें प्रत्येक पाद में 12 वर्ण होते हैं।

उदाहरण -

अभिमुखे मयि संहतमीक्षणं
I I I S I I S I I S I S
नगण भगण भगण रगण
हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
I I I S I I S I I S I S
नगण भगण भगण रगण
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
I I I S I I S I I S I S
नगण भगण भगण रगण
न विवृतो मदनो न च संवृतः॥
I I I S I I S I I S I S
नगण भगण भगण रगण

अभिज्ञानशाकुन्तल 2.11

कतिपय अन्य उदाहरण

1. इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते! हृदयं मम।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे! मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः॥
अभिज्ञानशाकुन्तल 3.16

2. यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्॥
अभिज्ञानशाकुन्तल 5.27

3. मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः॥
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः॥
अभिज्ञानशाकुन्तल 6.8

4. सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः॥
अभिज्ञानशाकुन्तल 7.3

6.6 उपजाति

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

जिस छन्द में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों का मिश्रण होता है, वह उपजाति छन्द कहलाता है। इसके चौदह भेद हैं। इसमें 11 अक्षर होते हैं।

उदा॰ -

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा इन्द्रवज्रा
S S I S S I I S I S S
तगण तगण जगण
हिमालयो नाम नगाधिराजः। उपेन्द्रवज्रा
I S I S S I I S I S S
जगण तगण जगण
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य इन्द्रवज्रा
S S I S S I I S I S S
तगण तगण जगण
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ उपेन्द्रवज्रा कुमारसम्भव 1.1
I S I S S I I S I S S
जगण तगण जगण

कतिपय अन्य उदाहरण

1. शमप्रधानेषु तपोवनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता -
स्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 2.7

2. प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 5.5

3. आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो
यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते यै
विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 5.25

4. संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुंधरा काल इवाप्तबीजा।। अभिज्ञानशाकुन्तल 6.24

5. अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्या-
द्यस्यायमङ्कात्कृतिनः प्ररूढः।। अभिज्ञानशाकुन्तल 7.19

6.7 वसन्ततिलका

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

वसन्ततिलका छन्द के प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और अन्त में दो गुरु होते हैं। यह चौदह अक्षरों वाला समवृत्त है।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
S S I S I I I S I I S I S S
तगण भगण जगण जगण गुरु गुरु

माविष्कृतोऽरुणपुरः सर एकतोऽर्कः।
S S I S I I I S I I S I S S
तगण भगण जगण जगण

तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां ।
S S I S I I I S I I S I S S
तगण भगण जगण जगण गुरु गुरु

लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।
S S I S I I I S I I S I S S
तगण भगण जगण जगण गुरु गुरु

अभिज्ञानशाकुन्तल 4.2

कतिपय अन्य उदाहरण

1. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।। -अभिज्ञानशाकुन्तल 4.3

2. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.14

3. उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नत भूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.15

4. भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।। अभिज्ञानशाकुन्तल 4.20

6.8 मालिनी

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

मालिनी वृत्त के प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण तथा यगण और आठवें और सातवें अक्षर के बाद यति होती है। अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण तथा दो यगण होते हैं। प्रथम एवं तृतीय चरण में आठवें और द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में सातवें अक्षर पर विराम या यति होती है।

उदाहरण -

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
I I I I I I S S S I S S I S S
नगण नगण मगण यगण यगण

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

I I I I I I S S S I S S I S S

नगण नगण मगण यगण

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी

I I I I I I S S S I S SI S S

नगण नगण मगण यगण यगण

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

I I I I I I S S S I S S I S S

नगण नगण मगण यगण यगण

अभिज्ञानशाकुन्तल 1.17

कतिपय अन्य उदाहरण

1. तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो -
   द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
   विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै
   स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 3.3
2. स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद्विनाशं
   ननु वृषल वियुक्तस्तादृशेनासि पुंसा।
   अथ तव बलमुख्यान्धातयेत्सापि पीडा
   वनगज इव तस्मात्सोऽभ्युपायैर्विनेयः॥ मुद्राराक्षस 3.25
3. इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
   स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
   वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
   कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.19
4. स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यते लोकहेतोः
   प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव
   अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
   शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 5.7

6.9 मन्दाक्रान्ता

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।

मन्दाक्रान्ता के प्रत्येक चरण में एक-एक मगण, भगण, नगण, दो तगण और अन्त में दो गुरु अक्षर होते हैं।

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां

S S S S I I I I I S S I S SI S S

म भ न त त गु गु

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।

S S S S I I I I I S S I S S I S S

म भ न त त गु गु

तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं

S S S S I I I I I S S I S S I S S

म भ न त त गु गु

याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

S S S S I I I I I S S I S S I S S

म भ न त त गु गु

कतिपय अन्य उदाहरण

1. कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
   भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
   एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भाङ्कुराणां
   नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.15
2. तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
   पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः।
   मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
   धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 1.29
3. अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
   रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
   अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
   पुण्यःशब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 2.14

4. नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै -
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे।। अभिज्ञानशाकुन्तल 2.15

5. मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः मेघदूत 10

6.10 शिखरिणी

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।

शिखरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और अन्त में एक लघु और एक गुरु होता है। प्रत्येक चरण में छठें तथा सतरहवें अक्षर पर यति होती है।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
I S S S S S I I I I I S S I I I S
य म न स भ ल. ग.

रत्नाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
I S S S S S I I I I I S S I I I S
य म न स भ ल. ग.

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
I S S S S S I I I I I S S I I I S
य म न स भ ल. ग.

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।
I S S S S S I I I I I S S I I I S
य म न स भ ल. ग.

अभिज्ञानशाकुन्तल 2.10

कतिपय अन्य उदाहरण

1. यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।

प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो -
र्न मे दूरे किञ्चित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.9

2. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती।। अभिज्ञानशाकुन्तल 1.20

3. पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती।
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुण विज्ञान विमुखी।। मुद्राराक्षस 2.7

4. महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव।। अभिज्ञानशाकुन्तल 5.10

5. इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्।। अभिज्ञानशाकुन्तल 6.9

6.11 शार्दूलविक्रीडित

सूर्याश्वैर्यदि मःसजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

शार्दूलविक्रीडित छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्त में एक गुरु अक्षर होता है। प्रत्येक चरण में बारहवें तथा उन्नीसवें अक्षर पर यति होती है।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
S S S I I S I S I I I S S S I S S I S
म स ज स त त गु.

नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
S S S I I S I S I I I S S S I S S I S
म स ज स त त गु.

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
S S S I I S I S I I I S S S I S S I S
म स ज स त त गु.

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥
S S S I I S I S I I I S S S I S S I S
म स ज स त त गु.

अभिज्ञानशाकुन्तल 4.9

कतिपय अन्य उदाहरण

1. नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥

अभिज्ञानशाकुन्तल 1.13

2. स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा –
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः॥

अभिज्ञानशाकुन्तल 1.26

3. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभोगोत्थितै –
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेद प्रतिद्वन्द्विभिः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.5

4. यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 4.6

5. प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः॥ मुद्राराक्षस 2.13

6.12 स्रग्धरा

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

स्रग्धरा वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण होते हैं। इसमें प्रत्येक सात वर्णों के बाद यति होती है।

उदाहरण –

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
S S S S I S S I I I I I I S S I S S I S S
म र भ न य य य

पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
S S S S I S S I I I I I I S S I S S I S S
म र भ न य य य

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
S S S S I S S I I I I I I S S I S S I S S
म र भ न य य य

पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।
S S S S I S S I I I I I I S S I S S I S I/S
म र भ न य य य

अभिज्ञानशाकुन्तल 1.7

कतिपय अन्य उदाहरण

1. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

अभिज्ञानशाकुन्तल 1.1

2. श्यामीकृत्याननेन्दूनरियुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य।
दग्ध्वा संभ्रान्तपौरद्विजगणरहितान्नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः।।

मुद्राराक्षस 1.11

3. कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः
काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः।
मेघाख्यः पञ्चमोऽस्मिन्पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु।।

मुद्राराक्षस 1.20

4. यत्रैषा मेघनीला चरति गजघटा राक्षसस्तत्रयायाद्
एतत्पारिप्लवाम्भः प्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञाम्
अज्ञासीः प्रीतियोगात्स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम्।।

मुद्राराक्षस 2.14

5. सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतोः
जेतारः स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणाम्।
द्रंष्ट्राभंगं मृगाणामधिपतय इव व्यक्तमानावलेपा
नाज्ञाभंगं सहन्ते नृवर नृपतयस्त्वादृशाः सार्वभौमाः।। मुद्राराक्षस 3.22

संदर्भ ग्रन्थ

अवस्थी, ब्रह्ममित्र - अलंकार कोश
इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1999

कालिदास - अभिज्ञानशाकुन्तलम्
मेरठ, 2001

कालिदास - रघुवंशम्

कालिदास - कुमारसम्भवम्

कालिदास - मेघदूतम्

उपाध्याय, बलदेव - संस्कृत आलोचना
उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1991

काणे, पी.वी. - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966

डे., एस.के. - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1988

धनञ्जय - दशरूपक
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1999

पिङ्गलाचार्य - छन्दशास्त्र
चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 1986

भरतमुनि - नाट्यशास्त्र
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1996

भास - स्वप्नवासवदत्तम्
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2011

भारवि - किरातार्जुनीयम्
विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली-1998

भामह - काव्यालंकार (डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा)
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1985

मम्मट - काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर)
ज्ञानमण्डल, वाराणसी, 1998

राजशेखर - काव्यमीमांसा
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2003

विश्वनाथ - साहित्यदर्पण (शालीग्राम शास्त्री)
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986

विशाखदत्त - मुद्राराक्षस
ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली

हीरा, राजवंश सहाय - भारतीय आलोचना शास्त्र
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2003

हीरा, राजवंश सहाय - भारतीय साहित्यशास्त्र कोश
बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2003

त्रिपाठी, राधावल्लभ - संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य परम्परा
प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2004